जैन-धर्म



लेखक :-

श्री पंडित नाथूराम डोंगरीय जैन

'न्यायतीर्थ, शास्त्री'

५/१, तम्बोली बाखल, इन्दौर (म. प्र.)

प्रकाशक :-

श्री जबरचंद फूलचन्द गोधा-ग्रन्थमाला

८, सर हुकमचन्द मार्ग, गम्भीर भवन, इन्दौर-२

लेखक :
श्री पंडित नाथूराम डोंगरीय जैन
न्याय तीर्थ
५/१, तम्बोली बाखल, इन्दौर

गोम्मटगिरि इन्दौर प्रतिष्ठा एवं महामस्तकाभिषेक महोत्सव

षष्ठम संस्करण

प्रस्तुत संस्करण ३,०००
क्रम संख्या १६०००
लागत मूल्य ३) रु. (धर्म प्रभावनार्थ २)

वीर नि २५१२
दिनांक ७ मार्च १९८६

पुस्तक प्राप्ति स्थान :–
श्री भवरचन्द फूलचन्द गोधा जैन ग्रन्थमाला
८, सर हुकमचन्द मार्ग, गम्भीर भवन इन्दौर-२

मुद्रक :– नईदुनिया प्रिन्टरी इन्दौर

प्रकाशकीय

मानव जीवन की दुर्लभता को समझते हुए मनुष्य का कर्त्तव्य है कि मानव के लक्षण और विशेषताओं से अपने जीवन को सुसंस्कृत कर अपनी इस पर्याय को सफल बनावे। वर्तमान वैज्ञानिक युग में मनुष्य भौतिकता की ओर आकर्षित होकर धर्म से पराङ्मुख हो गया है और केवल भोगविलास की सामग्री एकत्रित करने में अहर्निश संलग्न है। वह यह मान बैठा है कि इससे मुझे सुख और शांति मिलेगी। किन्तु यह मृगमरीचिका और क्षितिज के समान आशा तृष्णा बढ़ाने वाली प्रवृत्ति है। अपने और विश्व के स्वरूप को भलीभांति जान कर सुख और शांति कहां है? उसकी प्राप्ति किस प्रकार होगी, यह जब तक ज्ञात नहीं होगा, तब तक उद्देश्य की पूर्ति संभव नहीं है।

श्री पं. नाथूरामजी डोंगरीय न्यायतीर्थ, शास्त्री इन्दौर ने प्रस्तुत जैन धर्म पुस्तक की रचना कर अन्य कल्याण के साधनों के साथ विश्वप्रेम स्याद्वाद, रत्नत्रय, सम्य, दर्शन के अंग, अहिंसा, अणुव्रत आदि जीवनो पयोगी सिद्धांतों और सदाचरण को जैनधर्म के विविध अगो के रूप में विशद विवेचन कर पाठकों का मार्गदर्शन किया है। यह ग्रंथ सभी के लिये पठनीय है। इसका यह छठा संस्करण प्रकाशित हो रहा है।

श्री सेठ फूलचन्दजी गोधा अध्यक्ष, श्री जवरचन्द फुलचंद गोधा ग्रन्थमाला ने जैनधर्म के प्रचार प्रसार हेतु और विशेषरूप से ७ मार्च १९८६ से १३ मार्च १९८६ तक नवीनक्षेत्र गोम्मटगिरि (इन्दौर) के बिंबप्रतिष्ठोत्सव के अवसर पर आगन्तुक जनता के हितार्थ इसके प्रकाशन की आवश्यकता का अनुभव किया है। इससे पहले भी इस ग्रन्थ का ग्रन्थमाला की ओर से प्रकाशन हो चुका है। ग्रन्थमाला से अनेक उपयोगी अन्य प्रकाशन भी हुए हैं आशा है पाठक इससे लाभान्वित होंगे।

नाथूलाल शास्त्री
मंत्री ग्रंथमाला

अनुक्रमणिका



उद्गार—

मध्यप्रदेश के महामहिम राज्यपाल प्रो. श्री चांडी महोदय ने गोम्मटगिरि इंदौर पर दि. ९ मार्च १९८६ को विशाल संख्या में उपस्थित जन समूह को संबोधित करते हुए सक्षेप में निम्न प्रकार उद्गार अभिव्यक्त किये——

"जैनधर्म विश्व के प्राचीन और महान धर्मों में अपना विशेष स्थान रखता है। इस धर्म ने अपने प्रेम, अहिंसा और विश्वबंधुत्व जैसे महान सिद्धांतों से मानव समाज को गहनरूप से प्रभावित किया है। इसके तीर्थंकरों ने ही मानव को आत्मा से परमात्मा बनाने की विधिवत् शिक्षा देकर जीवन को पवित्र बनाने और अपने विकारों का जीतने की प्रेरणा दी। शुद्ध शाकाहार का विचार सर्व प्रथम जैन-धर्म ने ही दुनियाँ को प्रदान किया है। इन महान उपदेशों के लिये समस्त मानवता जैन-धर्म की चिरऋणी रहेगी" 'जयहिंद'

प्रो. किजाकोइल मथाई चांडी
K.M. Chandi
राज्यपाल मध्यप्रदेश

आत्म निवेदन

जैनधर्म क्या है, इसके द्वारा संसार का व हमारा क्या क्या हित हो सकता है, तथा इसके बहुमूल्य सार्वभौम उदार सिद्धांत व नीतियाँ कहाँ तक मानने और अमल करने योग्य है व उन पर अमल करने से मानव जीवन मे विद्यमान भीषण अशांति का नाश होकर विश्वशांति का विशाल साम्राज्य कैसे कायम हो सकता है? इन सब बातो से जन समुदाय व हमारा समाज भी प्रायः अपरिचित जैसा ही है। प्रचार प्रसार के अभाव मे इस विषयक अनेक भ्रमपूर्ण धारणाएँ भी लोक में दृढ हो गई हैं तथा साम्प्रदायिक भेद भावो के कारण विश्वधर्म होकर भी यह एक अल्प संख्यक समाज तक सीमित माना जाने लगा है। जब कि बिना किसी भेद भाव के प्राणिमात्र का संरक्षक विश्वबंधुत्व की भावना से ओत प्रोत-भगवती अहिंसा, सत्य, त्याग, सहिष्णुता, समता स्वतंत्रता, विश्वप्रेम एवं स्याद्वाद के उदार सिद्धान्तों का प्रतिपादक होने मे यह स्वतः सिद्ध विश्व के प्राणिमात्र का धर्म है। साथ ही अपने अनेकान्तात्मक स्वरूप के कारण विश्व के सभी धर्मो व सम्प्रदायों के साथ सहयोग करने व समन्वयी भाव से उन्हे एकता के सूत्र में पिरोने में सक्षम है ।

इधर विगत दशकों मे मानव की भावनाओ एवं कार्यो मे सर्वत्र असहिष्णुता व अपराध वृत्ति के बढने से जीवन मे निरंतर अशान्ति की वृद्धि होती जा रही है। साथ ही मानवता भी सत्य अहिंसा एवं न्याय के राजमार्ग से भ्रष्ट होकर दानवीय रूप धारण करती जा रही हैं। मदिरापान और मांसाहार कर लोग खुश हो रहे है। नये नये कसाईखाने खुल रहे हैं जिनमें लाखो मूक पशुओ का बध किया जाकर शासन द्वारा भी मांस का व्यापार तक किया जाने लगा है। सात्विक खानपान

की जगह अंडासंस्कृति पनप रही है। धन के लालच में दहेज कम मिलने पर बहुओं को जलाया और पीड़ित किया जा रहा है, राज तंत्र में भ्रष्टाचर का बोल बाला है, साम्प्रदायिक एवं रंग भेद मात्र से एक मानव दूसरे का शिकार तक कर रहा है। सारांश यह कि आध्यात्मिक और अहिंसक संस्कृति, सदाचार व धर्म पर प्राय. सर्वत्र कुठाराघात होता दिखाई दे रहा है।

ऐसी दशा मे उल्लिखित समस्त अनाचारों की रोक थाम के लिये विश्वशांति व अहिंसा के अग्रदूत विश्वधर्म उद्घोषक भगवान् महावीर के पवित्र सदेश व उपदेशों के प्रचार प्रसार की कितनी आवश्यकता है, यह किसी भी समझदार व्यक्ति से छिपा नहीं है। जब तक मनुष्य की अहिंसा पर–जो कि विश्वधर्म है–आस्था एवं उसके परिपालन पर दृढता नहीं आयेगी तब तक इन अनाचारों का रुकना असभव ही है।

यद्यपि जीव मात्र के कल्याण हेतु जैनाचार्यों द्वारा निर्मित ग्रथ रत्नों से साहित्य का भंडार भरा पड़ा है, किन्तु प्राचीन भाषाओं की अनभिज्ञता एवं दार्शनिक भावों की गहनता तथा विशालता के कारण धर्मज्ञान शून्य जनों की प्रथम तो उन तक पहुँच ही नही होती। फिर स्वाध्याय की रुचि के अभाव में उनका अध्ययन भी नही होपाता। अतः प्राचीन ग्रथो पर आधारित भगवद्वाणी का सार लेकर सक्षेप में सर्व साधारण को धर्म का परिचय देने हेतु प्रस्तुत पुस्तिका को अब से करीब ५० वर्ष पूर्व लिखने का प्रयास किया गया था जिसको विद्वज्जनों, पत्र पत्रिकाओं एवं धर्मानुरागी महानुभावों ने सराहना करते हुए अपनाया भी। फलस्वरूप इसके अभी तक पाँच संस्करण प्रकाशित होचुके हैं- दो बिजनौर यू.पी. से, तीसरा श्रीमती प्रेमकुमारी ग्रंथमाला सर स्व. हुकमचंद पारमार्थिक ट्रस्ट इन्दौर से, चतुर्थ-जवरचद फूलचंद गोधा ग्रंथमाला इंदौर से और पंचम संस्करण दि. जैन समाज गोहाना (हरयाणा) की ओर से। यह छठा संस्करण गोधा ग्रंथमाला की ओर से पुनः प्रकाशित है। इसमें कुछ अन्य महानुभावों ने अपनी ओर से निःशुल्क वितरण हेतु अग्रिम आर्थिक योगदान भी प्रदान किया है जिसके लिये वे एवं प्रकाशक धन्यवादार्ह हैं।

इंदौर
१०-३-८६

नाथूराम डोंगरीय

मंगलाचरण

मोक्ष मार्गस्य नेतारं,
भेत्तारं कर्म भूभृताम् ।
ज्ञातारं विश्वतत्वानां
वन्दे तद्गुण लब्धये ।।

मैं मोक्षमार्ग के प्रणेता (दिग्दर्शक) कर्मों का नाश कर विश्वतत्व के ज्ञाता महापुरुष परमात्मा की उनके गुणों की प्राप्ति हेतु वंदना करता हूँ।

—मोक्षशास्त्र

जैन-धर्म

ग्रन्थमाला संस्थापक, धर्म वत्सल

श्रीमान् सेठ फूलचंदजी गोधा

शक्कर बाजार इन्दौर



आप एक उदारमना दानशील धर्मानुरागी श्रावक हैं, जिन्होंने
[illegible]) रु० की राशि प्रदान कर जवरचंद फूलचंद गोधा
ग्रंथमाला की स्थापना की थी। जिसमें अनेक ग्रंथ प्रकाशित
हो चुके हैं तथा जिसकी आमदनी से अनेक लोकोपकारी
कार्य भी सम्पन्न हुए हैं। भैरूगढ़ उज्जैन में आपने
एक जैन मन्दिर का निर्माण भी करवाया था
और आज भी धर्म प्रभावना के कार्यों में
अपना महत्वपूर्ण योगदान देते रहते हैं।

प्रथम खंड

जैन धर्म

ओम् नमः सिद्धेभ्यः

संसार किधर ?

मानव जीवन की प्रत्येक दिशा में आज भीषण अशांति का नग्न तांडव हो रहा है । चारो ओर प्रायः पाप, पाखंड, अन्याय और अत्याचारों का शैतानी साम्राज्य छाया हुआ है । बलवान निर्बलों को, धनवान निर्धनों को, एक जाति दूसरी जाति को और भाई भाई को भी सताकर, धोखा देकर, यहाँ तक कि उसका सर्वस्व हरण कर भी अपनी आसुरी लालसाओं को तृप्त करने मे स्वार्थान्ध होकर जुटा हुआ है । न केवल सामाजिक अपितु राजनैतिक क्षेत्र में भी युद्ध जैसे निर्दयतापूर्ण कार्यों द्वारा नर-संहार का भयंकर दृश्य उपस्थित होता रहता है । साम्राज्य लोलुपी वर्ग दुनिया के निर्बल और अस्त्र-शस्त्रहीन देशों की स्वतन्त्रता का अपहरण कर उसके धन, जन सर्वस्व को अपनी चालाकियों से हड़पने पर तुले रहते हैं और तब मानवता को कुचलकर मनुष्य एक खूंख्वार जंगली पशु से भी भयंकर दानवी रूप में दिखायी देता एवं मारकाट, लूट-खसोट तथा अन्यान्य जघन्य कृत्यों द्वारा आत्म शांति के साथ-साथ समाज, देश एवं विश्व की शांति का भी गला घोंटता रहता है ।

मानवता क्या है और जीवन में उसका क्या महत्व है, मैं कौन हूँ और ये सब कौन हैं तथा इन सब के वा अपने प्रति मेरा क्या कर्त्तव्य है ? वास्तविक सुख क्या और कहाँ है, तथा कैसे प्राप्त हो सकता है ? तथा दुख क्यों हैं और कैसे मिटाया जा सकता है ? आदि विषयों पर कोई गंभीरतापूर्वक विचार तक नहीं करना चाहता, प्रत्युत् दूसरों को बुद्धू बनाकर अपना स्वार्थ कैसे साधा जाय, संसार की सारी संपत्तियों पर किस भाँति मैं ही अधिकार कर लूं व अपनी वासनाओं को तृप्त करने के लिए संपूर्ण भोगोपभोग संबधी सामग्रियों की पूर्ति कर डालूं, आदि आदि अशांति, आकुलता और वासनामय विचारों में ही प्राय: परिपूर्ण मानव समाज निमग्न हो रहा है। धर्म और आत्मज्ञान-शून्य मदोन्मत्त युवतियाँ व युवक भौतिक वस्तुओं के भोगने और खाने, पीने, मौज उडाने को ही अपना अंतिम लक्ष्य बना स्वछंदतापूर्वक विलासितामय जीवन व्यतीत करने में अपने को कृतकृत्य समझ रहे है। वे धर्म कर्म के नाम को सुनते ही बिदकते, नाक-भौह सिकोडते और मुह मरोडते हुए कोई-कोई तो उन्हें निरा ढोंग तथा पाखड तक कह देने का साहस करने लगे हैं। "कोई मरता है तो मरे, जीता है तो जिये—हमे किसी से क्या मतलब, अपने काम से काम" ये हैं स्वार्थांधतापूर्ण हीन विचार जो मानव के अंत:करण मे प्राय: घर करते जा रहे हैं और पारस्परिक प्रेम, नि:स्वार्थ सेवा, सुख-दुख में सहानुभूति एवं सहायता के भाव विलीन होते जा रहे हैं।

जब मनुष्य का मनुष्य के साथ ही यह व्यवहार है तब अन्य प्राणियों के साथ उसके बर्ताव का तो कहना ही क्या ? प्रति

दिन लाखों निरपराध दीन पशु-पक्षियों को मार-काट कर गले उतारता हुआ मानव जाति का अधिकांश भाग अब निःसंकोच होकर यह कहने का साहस करने लगा है कि अन्य सब प्राणियों का निर्माण ईश्वर ने हमारे खाने-पीने और मौज उड़ाने के लिए ही किया है। अतः कत्ल-खानों में लाखों गाय, भैंस आदि मूक पशुओं को पंक्तिबद्ध खड़ा कर घातक मशीनों द्वारा निर्दयता से वध करना एवं अपने भौतिक सुख-सुविधाओं की पूर्ति के लिए सहस्त्रावधि बंदरों, मेंढकों, मुर्गों, मछलियों आदि को अनेक प्रकार की यंत्र-णायें देकर क्रूरतापूर्वक सताना और अंत में मारकर उदरस्थ कर जाना आज के मानव के लिए कोई अन्याय या अपराध नहीं रह गया। यह भी एक विडम्बना ही है कि जो भारत, धर्म और अहिंसा के अवतारों की क्रीड़ाभूमि रहा और विश्व को आत्म-शांति एवं मानव धर्म का पावन संदेश दिये जाने के कारण कभी जगद्गुरु के पद पर प्रतिष्ठित रहा है वही आज के युग में तीव्रगति से हत्या, बलात्कार, लूट-खसोट, भ्रष्टाचार, बेई-मानी आदि अनेक अनैतिक व अमानवीय कृत्यों द्वारा धर्म और मानवता का सर्वनाश किया जा रहा है तथा हिंसा, परद्रव्याप-हरण, असत्यसंभाषण, छल, कपट, बलात्कार, भ्रष्टाचार और विश्वासघात जैसे कुकृत्यों का निर्भयता के साथ आचरण करने में पाप नही, गौरव का अनुभव होने लगा है। अस्तु।

दुनियां क्या चाहती है ?

यदि इस प्रश्न पर गंभीरता से विचार किया जाय तो इन सब दुर्वासनाओं, कुविचारों और काले कारनामों के अंदर केवल

एक ही उद्देश्य कार्य करता हुआ दिखाई देता है, और वह है जीवन में वास्तविक व स्थायी सुख की संप्राप्ति। मनुष्य चाहता है कि उसे पुण्य के स्थान पर पाप और धर्म की जगह अधर्म भले ही करना पड़े, किन्तु उसे अपने स्वार्थों व वासनाओं की पूर्ति द्वारा आनन्दानुभवन होना चाहिये। दुःख है कि ज्यों-ज्यों वह अपने उद्देश्य की पूर्ति हेतु पापादि पतित कार्यों की ओर अग्रसर होता जाता है त्यों-त्यों उसे आत्मिक सुख शांति के स्थान पर अशांति, आकुलता और घोर संकटों का ही सामना करना पड़ रहा है। यही कारण है जो आज पहिले की अपेक्षा कहीं अधिक दुखों की निराशाजनक घनघोर घटाएँ छाई हुई है। समृद्ध राजप्रसादों से लेकर दीन जनों की कुटियों तक एक अजीब बेचैनी सी अनुभव में आ रही है। यहाँ तक कि अणु-बमों एवं अन्यान्य घातक शस्त्रास्त्रों के निर्माण के कारण समस्त मानव जाति के साथ ही अन्य जीव जातियों के पूर्ण विनाश की आशंका भी आज दुनिया को भयभीत किये हुए है।

यद्यपि भौतिक विज्ञान की चमत्कारपूर्ण खोजें मानव जाति के लिये भोगोपभोग की सामग्रियों में यथेष्ट वृद्धि और जीवन मे सुविधाओं की नित नई सृष्टि करती जा रही हैं; किन्तु सुविधाओं के बढ़ जाने पर भी सुख नहीं बढ़ा, सामग्रियों में वृद्धि हो जाने पर भी शाँति नही मिली, प्रत्युत् मनुष्य की तृष्णा और चिन्ताओं में अभिवृद्धि के साथ ही जीवन में दुःख और अशाँति बढ़ गयी तथा आंतरिक कलुषता के चरम सीमा में पहुँच जाने के कारण मानवता का सर्वनाश होता। दिखाई दे रहा है।

यदि वास्तविक दृष्टि से देखा जाय तो यह सब हमारे भौतिक भोगवादजनित दुर्वासनाओं के कुचक्र में फँसकर भ्रमवश इंद्रिय भोगों और विलास की सामग्रियों को ही सुख दाता व जीवन सर्वस्व समझ उन्हें ही,अपना अंतिम लक्ष्य बना लेने का दुष्परिणाम है जो आज दुनियां को संकट के सागर में डुबकियां लगाने को विवश कर रहा है । भोगोपभोगों की इन नाना सामग्रियों की चकाचौंध ने मनुष्य की बुद्धि को अंधा बना दिया है जिससे वह अन्तरात्मा के प्रकाश और वास्तविक आनन्द को न देखकर सुख पाने के लिये भोगोपभोग की बाह्य सामग्रियों पर एकाधिकार करने के उद्देश्य से दानवीय रूप में प्रकट हो रहा है । यदि विचार किया जाय तो मानव अनादि से ही अपनी उक्त भ्रान्त धारणाओं के कारण इंद्रियों का दास बनकर पाप वासनाओं में लिप्त हुआ विषय कषाय में निमग्न हो रहा है । चूंकि बाह्य वस्तुओं के स्वाद में ही उसने सुख की कल्पना कर रक्खी है । अतः उन्हीं की पूर्ति हेतु वह दिन रात पागलों की भाँति जुटा रहता है और 'सच्चा सुख क्या है व कहाँ है ?' इस विषय पर उसे ध्यान देने की आवश्यकता ही अनुभव में नहीं आती।

यही कारण है कि जो हम अब तक न तो स्वयं सुखी बन सके और न विश्व में ही शांति स्थापित कर सके तथा सुख का स्वरूप और उसकी प्राप्ति का वास्तविक उपाय न जानने एवं उसे कहीं का कही प्राप्त करने के विफल प्रयत्नों द्वारा हीनाधिक रूप में आकुल व्याकुल होते हुए अपने बहुमूल्य जीवन को व्यर्थ में अपने ही हाथों बर्बाद ही करते रहे ।

इस संबंध में किंकर्तव्य विमूढ़ मानव को भगवान् ऋषभदेव से लेकर महावीर पर्यंत तीर्थंकरों की परंपरा ने प्रथमतः आत्म-शुद्धि का मार्ग अपना कर परमात्म दशा को प्राप्त करते हुए अपनी दिव्य वाणी द्वारा दुनियाँ के दुखी प्राणियों को भी मार्ग दर्शन देकर उच्च स्वरों में निम्न प्रकार घोषणा की—

'बंधुओं, तुम जो अपने स्वयं के ज्ञानानंदमयी स्वरूप को विस्मृत कर इस असार संसार के विषय भोगों एवं धनादि संपदाओं को जीवन सर्वस्व बनाये हुए हो और इसके लिए परस्पर भाई भाई से, पिता पुत्र से, एक जाति दूसरी जाति से तथा एक देश दूसरे देश से संघर्ष एवं दानवों की भांति निर्बलों पर अत्याचार कर सुखी बनने का स्वप्न देख रहे हो, वह तुम्हारा भ्रम है। विषय-वासनाओं की पूर्ति हेतु पाप, अन्याय, अत्याचार, अनीति और स्वार्थान्धतापूर्ण कुकृत्यों के करने से दुनियां में कभी भी और किसी को भी शांति नहीं मिल सकती। इनकी ओर मनुष्य ज्यों-ज्यों पग बढ़ायेगा त्यों-त्यों अपने को भीषण अशांति और दुःख सागर की भँवर के चक्कर में ही फंसा हुआ पायेगा। एक क्षण के लिए अपनी अंतरात्मा की आँखे खोलकर देखो, जो लोग दुनियाँ में स्वार्थान्ध होकर पाप और अत्याचार करते हुए अपनी आसुरी लालसाओं को तृप्त करने में जुटे हुए हैं क्या उनका जीवन सुखी है? कदापि नहीं। जो जितना स्वार्थान्ध होकर विषय वासनाओं की पूर्ति के लिए मक्कारी, दगाबाजी, बेईमानी आदि का सहारा लेकर दुष्प्रवृत्तियों में अग्रसर हो रहा है वह उतना ही संतप्त, व्याकुल अशांत, पतित और

दुखी है। हो सकता है कि कोई चालाकी से दूसरों को धोखा देकर या अन्य कुकर्म कर थोड़ी देर के लिए अपनी वासनाओं की पूर्ति करने में सफल हो जाय; किन्तु इससे उसकी अन्तरात्मा सुखी कदापि नही बन सकती और न उसका वह क्षणिक वासनापूर्तिजन्य कल्पित सुख भी चकनाचूर हुए बिना रह सकता। अतः सर्वप्रथम गम्भीरतापूर्वक यह निर्णय करने की आवश्यकता है कि मैं जिस सुख की प्राप्ति के लिए यह सब कर रहा हूँ, वह क्या वस्तु है, कहाँ रहती है और कैसे प्राप्त हो सकती है ? तथा मैं कौन हूँ, मेरा क्या स्वरूप है ? इन शारीरिक इन्द्रियो का मुझसे और सुख का इंद्रियों से क्या सम्बन्ध है ?

यदि विवेकपूर्वक विचार करोगे तो तुम्हे स्वयं ही समझ में आ जायगा कि मानवता का परित्याग कर पाप और अत्याचार करने तथा विषय वासनाओं में लिप्त होते जाने से किसी को रंचमात्र भी सुख नही मिल सकता। यदि ऐसा करने से सुख मिलता तो संसार मे सुख शांति की स्थापना कभी की हो जाती, क्योकि ऐसे कौन से पाप और अत्याचार हैं जो मानव कुलोत्पन्न दानवो द्वारा नही किये गये—और नहीं किये जा रहे ? इतिहास के पन्ने पलट कर देखने और अपनी दृष्टि दुनियाँ में होने वाले आज के दुष्कर्मों पर दौड़ाने से स्वयं ही ज्ञात हो जाता है कि पापी एवं अत्याचारी मनुष्य को आज नही तो कल अपने कुकृत्यों का दुष्परिणाम ही भुगतना पड़ा तथा पाप व अत्याचार करते हुए दूसरों को जो अशांति एवं पीड़ा का अनुभव हुआ और हो रहा है सो अलग।

इसलिए यदि तुम सचमुच ही सुखी बनना और अपने साथ दूसरों को भी सुखी बनाना चाहते हो तो सर्वप्रथम सांसारिक कल्पित सुख के विषय में मिथ्या मोह का परित्याग कर सम्यग्दृष्टि बनना होगा तथा अपने व अपने ही समान दूसरों के ज्ञानानन्दमयी स्वरूप को समझकर समता और विश्व-बंधुत्व की भावना से मैत्री भावपूर्वक—

'विश्व प्रेम'

के पवित्र सूत्र में बँध जाना होगा। इसके साथ ही अपने से भिन्न किसी भी व्यक्ति, वर्ग, समाज, जाति सम्प्रदाय व देश के मनुष्यों से घृणा व द्वेष न कर उनके साथ समानता की भावना से विनम्रतापूर्वक मित्रतापूर्ण व्यवहार भी करना होगा। इतना ही नही, मूक और निरीह पशुपक्षियों तथा अन्य सभी प्राणियों को भी अपने ही समान प्राणवान समझते हुए उनके प्राणों व हितों की रक्षा का भी पूरा-पूरा ध्यान रखना होगा; क्योंकि उन्हें भी हमारे समान सुख शांतिपूर्वक जीवित रहने का पूर्ण अधिकार है—उन्हें मारने या मारकर खाने का किसी को कोई अधिकार नहीं है। जब तक अध्यात्मवाद का सहारा लेकर विश्व-बंधुत्व की भावना से एक मनुष्य अन्य मनुष्य एवं दूसरे प्राणियों को अपने ही समान समझ हृदय से प्यार नही करता एवं उनके दुःख को अपने दुःख के समान अनुभव नही करता, वरन् उनको सताता एवं अमानुषिक व्यवहार करता है तब तक विश्व में शांति की स्थापना कठिन ही नही, असंभव है।

जब तुम दूसरों को स्वार्थवश सताओगे और उनके हितों को ठेस पहुंचाओगे तो यह स्वाभाविक है कि वे तुम्हें सताकर या सुख-साधनों को नष्ट-भ्रष्ट करके इसका बदला लेने का प्रयत्न करें। यह समझकर इतराना मूर्खता है कि हम धनवान हैं, बड़े हैं या बलवान हैं, हमारा कोई क्या कर सकता है? क्योंकि बड़े-बड़े अभिमानियों का अभिमान, जो कभी आसमान से बातें करते थे, एक क्षण मे ही समय आने पर मिट्टी में मिला देखा गया है। अत इस तथ्य को समझ लेना नितांत आवश्यक है कि जिस धनादि सम्पत्ति को पाकर मनुष्य मदान्ध होकर पुण्य-पाप की परवाह किये बिना दूसरों को सताकर सुखी बनना चाहता है, एवं अन्य सम्पत्ति-विहीन निर्बल मनुष्यों को तुच्छ समझ कर उनका तिरस्कार करता तथा पैरों तले रौंधने तक का दुष्प्रयत्न करने लगता है, उस सम्पत्ति का समागम न तो स्थायी है और न उससे आत्मशांति या स्थायी सुख की ही प्राप्ति सम्भव है। बड़े-बड़े चक्रवर्तियों ने जो कभी महान् परिश्रम और प्रयत्न कर शानदार साम्राज्य स्थापित किये और असीम सम्पत्तियों का स्वामित्व प्राप्त किया था उनमें से एक को भी स्थायित्व प्राप्त न हो सका। प्रत्युत् अन्त समय हाथ मल मलकर पश्चात्ताप करते हुए विवश होकर मृत्यु के मुख में समा जाना पड़ा। अतः मदोन्मत्त या पदोन्मत्त होकर यह न भूल जाओ कि इन दीन-हीन दिखने वाले मानवों व अन्य प्राणियों में भी तुम्हारी भाँति ही आत्मा विद्यमान है—जो तुम जैसी ही सुख-दुख वेदन करने की शक्ति रखता है। अतः प्रत्येक व्यक्ति की समझदारी इसी में है कि वह अपने ही समान दूसरों को समझता हुआ उनसे प्रेमपूर्वक सहानुभूति का व्यवहार

करे एवं अपना कोई भी कार्य करते हुए इस बात का पूरा ध्यान रखे कि उसके द्वारा किसी का हित होने के स्थान पर अहित न होने पाये।

आत्मदर्शन

वास्तविक दृष्टि से संसार का प्रत्येक प्राणी परमात्म स्वरूप है और परमात्मा राग, द्वेष रहित, सर्वज्ञ, पूर्ण सुखी, अनन्त शक्ति-सम्पन्न, जन्म-मरण रहित, निर्दोष और निष्कलंक होता है। ऐसे परमात्मा बनने की शक्ति सम्पूर्ण संसारी भव्य आत्माओं मे विद्यमान है, वही आत्मा का वास्तविक स्वरूप है। भेद यह है कि संसारी आत्माएँ राग, द्वेष, मोह, काम, क्रोधादि विकारों और पाप वासनाओं के कुचक्र में फँसी हुई जन्म-मरणादि के कष्टों को भोग दुखी हो रही है; किन्तु परमात्मा इन सब झंझटों से मुक्त है। सासारिक आत्माएँ चूंकि नाना प्रकार के पाप पुण्यादि कर्मो को करती रहती है, जिनके फलस्वरूप उनकी अवस्थाएँ भी विचित्र होती रहती है, किन्तु यह निश्चित है कि प्रत्येक आत्मा ज्ञानानन्द स्वरूप है और इसीलिए वह सुख चाहता है तथा दुखों से डरता है एवं अपने को सुखी बनाने के लिये ही वह भ्रमवश नाना प्रकार के भले-बुरे कार्यो को करता रहता है, किन्तु सुख पाने का सच्चा मार्ग ज्ञात न होने से वह वास्तविक सुख तो पा ही नही पाता, वरन् संसार में भी शांति से नही जीने पाता।

सम्पूर्ण प्राणियों के शरीर में एक समान आत्मा मौजूद रहने और उनके सुख पाने के इच्छुक होने से समस्त आत्माएँ एक ही मर्ज की मरीज है तथा परस्पर मे एक दूसरे से भाई-

भाई की तरह प्यार व सहानुभूति पाने की अधिकारिणी है। आनन्द या सुख आत्मा का ही स्वभाव या गुण है। उसे संसारी जन अपनी ही काली करतूतों द्वारा नष्ट-भ्रष्ट कर दूसरी चीजों मे ढूंढ़ते-फिरते है। इसलिये जबकि सुख अपनी आत्मा का ही गुण है, और वह स्वतन्त्रतापूर्वक आत्मा मे ही प्राप्त हो सकता है तो फिर सांसारिक वस्तुओं से सुखी बनने और उन्हें प्राप्त करने के लियें आपस मे स्वान्ध होकर लड़ने-झगडने तथा पापादि नीचतापूर्ण कार्यों के करने की मूर्खता क्यों करते हो?

ससार मे जीव अनंतानंत है और प्रत्येक प्राणी में तृष्णा उनकी संख्या से भी कई गुणी विद्यमान है। संसार में विषय भोगों की सामग्रियाँ वैसे ही परिमित हैं, जिनकी पूर्ति प्रत्येक प्राणी अव्वल तो कर ही नही सकता और यदि थोड़ी देर के लिये कर भी ले तो उन्हे एक साथ भोग कर उनसे सुखी नही बन सकता, जबकि सुख आत्मा का गुण है, न कि आत्मा से भिन्न किसी दूसरी भोगोपभोग की सामग्री का। इधर जितनी-जितनी भोग सामग्रियों की वृद्धि होती देखी जाती है, मानव मे उतनी ही तज्जन्य आकुलता और अशांति की वृद्धि भी। अतः समझदारी यही है कि यदि तुम वास्तव मे सम्पूर्ण दुखों से छुटकारा पाकर शांतिपूर्ण जीवन व्यतीत करना चाहते हो तो इन्द्रियों के दास बनकर संसार के इन विषैले विषय-भोगों को आदर्श मान उनकी पूर्ति के लिये आकुल-व्याकुल होकर आत्मशांति भंग करना और साथ ही दूसरों पर अत्याचार कर उन्हें दुखी बनाना छोड़ दो। इसके साथ ही स्वयं को सुखी बनाने

के लिये अपने जीवन का उद्देश्य अपने गुणों का विकास करते हुए परमात्म दशा को प्राप्त करना बनाओ एवं संसार में शांति की वृद्धि के लिये दूसरों के उचित व अपने ही समान अधिकारों की रक्षा करना, अपने न्याय से प्राप्त भोगों को संतोष से भोगते हुए दूसरे दीन दुखी प्राणियों को अपना ही बंधु समझ उनकी हर प्रकार रक्षा व प्रेमपूर्ण निःस्वार्थ सेवा करना अपना प्रथम कर्तव्य समझो।

यदि कोई मनुष्य होकर भी घर और बाहर अपने कुटुम्बियों, पडौसियों, नागरिको, देशवासियों तथा मानव मात्र के साथ मित्रता और प्रेम का बर्ताव नहीं करता तो उसमें फिर रह ही क्या जाता है जिससे कि उसे पशु न कहा जाय ? जो व्यक्ति भ्रमवश या जानबूझकर आत्माधीन सुख के लिये अपने आप पर भरोसा न कर स्वार्थान्ध होकर दूसरों पर जुल्म करते हुवे खाने, पीने मौज उडाने को ही अपने जीवन का आदर्श बना लेगा तथा आत्मा को शुद्ध बनाने के अपने पावन लक्ष्य की ओर ध्यान न देगा, यथार्थ में वही व्यक्ति मिथ्यादृष्टि व नास्तिक है और अपने साथ दूसरों के सुख व शांति को कुचलने का भी उत्तरदायी है। इसलिये प्रत्येक व्यक्ति का यह कर्त्तव्य है कि वह उपर्युक्त बातों को सर्वप्रथम गम्भीरतापूर्वक विचारे और उन पर अमल करे, ताकि अपने साथ अन्य प्राणी भी शांति के साथ जीवन व्यतीत कर सुख की ओर अग्रसर हो सके।

इस प्रकार समता और विश्वबंधुत्व की पवित्र भावना से ओत प्रोत सुखमय सन्देश की घोषणा करने के साथ ही

मनुष्यों के सैद्धान्तिक मतभेदों के कारण होने वाले आपसी विद्वेषों एवं साम्प्रदायिक विसंवादों को जड़ मूल से उखाड़ फेंकने, अनेकता में एकता और समता स्थापित करने तथा हठ व पक्षपातपूर्ण नीति का अन्त कर विचारों में उदारता और सहिष्णुता का समावेश करते हुवे दूसरों के विचारों का समादर करने एवं मनुष्यों के एकांगिक वस्तु विज्ञान को सत्य व पूर्णता की ओर ले जाने के लिये उन्हीं समदर्शी तीर्थंकरों ने अनेकांतात्मक स्याद्वाद का चमत्कारपूर्ण आविष्कार कर दुनिया को दूसरा बहुमूल्य संदेश प्रदान किया।

स्याद्वाद

स्याद्वाद का अर्थ अपनी दृष्टि को विशाल, विचारों को उदार, वाणी को आग्रहहीन, निष्पक्ष एवं नम्र बनाकर अपना सद्अभिप्राय दूसरों पर प्रकट करना है। प्रायः देखा जाता है कि एक सम्प्रदाय दूसरे सम्प्रदाय से, एक जाति दूसरी जाति से, एक पार्टी दूसरी पार्टी से और यहाँ तक कि एक भाई दूसरे भाई से असहिष्णु बनकर इसलिये लड़ता है कि उससे भिन्न सम्प्रदाय, जाति, पार्टी या भाई विचार उसके विचारों से भिन्न हैं, उसके अनुकूल नहीं।

मतभेद और दृष्टिकोण की भिन्नता मात्र से धर्म के नाम पर प्राचीन समय में भी धर्मान्ध लोगों ने साम्प्रदायिकता के नशे मे मत्त होकर अपने से भिन्न सम्प्रदाय और विचार के निरपराध लोगों पर जो असंख्य और निर्मम अत्याचार किये हैं एवं उन्हें जिन्दा जलाकर, कोल्हू में पेलकर, तलवार के घाट

उतार कर, दीवारों में चिनवा कर, और खाल खींच भुस भरवाकर अपने राक्षसी कृत्यों द्वारा धर्म के पवित्र नाम को कलंकित और इतिहास के पृष्ठों को रक्तरंजित किया है वह किसी भी विज्ञ पाठक से छिपा नहीं है । ईसाइयों के रोमन कैथलिक और प्रोटेस्टेंट सम्प्रदायों में परस्पर जो खून खराबियाँ; हुईं और हिन्दुओं में बुद्धदेव को चौबीसवाँ अवतार स्वीकार कर लिये जाने पर भी जो शंकराचार्य के समय में बौद्ध तथा जैन लोगों पर भीषण अत्याचार किये गये एवं मुसलमानों ने जो इस्लाम का प्रचार प्रेम से करने की अपेक्षा तलवार के जोर से करने का प्रयत्न कर अपने से भिन्न मतानुयायियों पर असंख्य अत्याचार किये तथा उन्हे काफिर बताकर मौत के घाट उतारा, यह सब साम्प्रदायिकता का दुष्परिणाम नही तो और क्या था ? जिसकी कोई भी समझदार एवं निष्पक्ष व्यक्ति भर्त्सना किये बिना नही रह सकता ।

आज भी कट्टर मुसलमान हिन्दुओं या ईसाइयों को अपना महान् शत्रु सिर्फ इसलिये समझते हैं कि उनके विचार अपनी मान्यता और रीतिरिवाजों के अनुकूल नही है । इसी प्रकार अनुदार हिन्दू मुसलमानों या ईसाइयो को भी मतभेद होने से उनके प्रति विद्वेष ,की भावना बनाये रखते है । यद्यपि संसार में अधिकतर दार्शनिक अपने शास्त्रों में मान्य एक ही ईश्वर खुदा या (God) को चराचर सारी दुनिया का सृष्टा तथा उसका भाग्य विधाता मानते हैं और इसलिये उनके मतानुसार जिस परमपिता, खुदा या गाड ने हिन्दू को बनाया उसी ने मुसलमान या ईसाई को भी पैदा किया, यह बात सिद्ध

होती है। फिर भी अपने संकुचित व अनुदार दृष्टिकोण के द्वारा लोग मजे में अपने ही मान्य किये धर्म के सिद्धान्तों का गला घोंटते रहते है । "क्योंकि इसके विचार मेरे विचारों से भिन्न है", प्रायः यही सोचकर मानव समाज का अधिकांश भाग एक दूसरे के प्राणों का अपहरण तक करने पर तुल जाता है । अकेले भारत में ही धर्म के पवित्र नाम पर लोग कितने भीषण दगे कर डालते हैं !

इस मत भिन्नता से विश्व में होने वाले सार्वकालिक कलह और विद्वेष को दूर कर विश्व में शाति और विचारों में समन्वय की स्थापना करने के उद्देश्य से तीर्थंकरों ने घोषणा की कि अनादि काल से ही संसार में प्रत्येक प्राणी के विचार एक दूसरे से भिन्न रहे हैं व रहेंगे, क्योंकि हर एक के विचारो का उसकी अपनी परिस्थिति, समझ एव मानसिक इच्छाओं तथा आवश्यकताओं के भिन्न होने से एक जैसा हो जा असम्भव है। सब का ज्ञान और साधन भी परिमित एव भिन्न हैं। यही कारण है जो एक ही पिता के पुत्रों के विचारो मे भी जमीन और आसमान से भी अधिक अन्तर दिखाई देता है। इसलिये मत भिन्नता मात्र से किसी से विद्वेष या कलह करना न तो उचित है और न बुद्धिमता ही है। अतः विचार सहिष्णु बनो ।

अनेकांत—वस्तु का स्वरूप

वास्तविकता यह है कि प्रत्येक वस्तु में अनेक गुण धर्म या अवस्थाएँ हुआ करती हैं कोई वस्तु को किसी एक रूप में देखता है और उस पर विचार करता है, तो दूसरा दूसरी

दृष्टि से दूसरे रूप में। जो वस्तु को दूसरी दृष्टि से दूसरे रूप से देखता है वह उसकी दृष्टि से ठीक हो सकता है और तुम्हारा अपनी दृष्टि से, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि तुम्हारी एकांगिक दृष्टि ही ठीक है तथा दूसरों की गलत, और इसलिये सब को तुम्हारी ही दृष्टि से देखना चाहिये व दूसरे पहलू से उस बात या वस्तु पर विचार ही नहीं करना चाहिये, क्योंकि अपनी अपनी दृष्टि से विचार करने में सब स्वतंत्र हैं। सबका ज्ञान भी वस्तु के किसी गुण या भाग पर दृष्टि रखने के कारण एक अंशात्मक ज्ञान है, न कि पूर्ण ज्ञान। एक मनुष्य अपने पिता को पिता कहता है तो दूसरा उसे ही भाई के नाते भाई और बहनोई के नाते बहनोई भी कह सकता है, इस भाँति उस एक ही मनुष्य में भ्रातृत्व, पितृत्व आदि संबंधों के होने से कोई बाधा नहीं आती। बात है भी ऐसी ही, किन्तु जो मनुष्य अपने पिता को पिता होने से सब का पिता समझता फिरे और दूसरों के भाई कहने या बहनोई होने पर बहनोई कहने से लड़ने-झगड़ने लगे तो क्या यह मूर्खता या हठग्राहिता न होगी? अतः दृष्टिभेद या मतभेद होने मात्र से किसी को अपना दुश्मन समझ कर उससे द्वेष या विसंवाद मत करो, क्योंकि विभिन्न प्राणियों के नाना स्वभाव और विचित्र दृष्टि-कोण होने के कारण मतभेद होना स्वाभाविक है। अतः वस्तु के स्वरूप पर अपने दृष्टिकोण को निष्पक्ष और उदार बनाकर हर पहलू से विचार करो।

इसके अतिरिक्त संसार में सैकड़ों संप्रदाय अपने-अपने ऋषि-महर्षियों की समझ व उनके ज्ञान और अनुभव के द्वारा

स्थापित किये गये हैं। उन्हें देखकर झुंझलाओ या घृणा मत करो और न उनके अनुयायियों की पूजा-पाठ आदि धार्मिक क्रियाओं में ही विघ्न डालो क्योंकि जैसा जिसने समझा है वह उसके अनुसार ही अपनी धार्मिक क्रियाएँ किया करता है। उसे वैसा करने से रोकने के लिये जोर-जबरदस्ती करना कदापि धर्म नहीं हो सकता और न वैसा करने से वह तुम्हारे मत का अनुयायी ही बन सकता, बल्कि इससे तो वह तुम्हारी मान्यता के साथ-साथ तुम से भी घृणा करने लगेगा और विसंवाद द्वारा अशांति फैलेगी, सो अलग। अतः यदि तुम उसे गलत रास्ते पर समझते हो और अपने विचारों के अनुकूल बनाकर सब लोगों से धार्मिक क्रियायें करवाना चाहते हो तो अपने मान्य सिद्धांत का प्रेम-पूर्वक प्रचार करो। इसमे यदि आंशिक सफलता भी मिल जाय तो उसे बहुत समझो, किन्तु जबरदस्ती अपने विचार दूसरों पर लादने का दुष्प्रयत्न कभी न करो, जो कि कभी सफल नहीं हो सकता। हो सकता है कि कोई जानबूझकर या विना जाने गलती कर रहा हो या उसने वस्तु के स्वरूप व अन्य बातों को गलत ही समझ रखा हो, तो भी उससे द्वेष न कर यदि बन सके और तुम उसे समझाने का पात्र समझो तो उसे प्रेमपूर्शक वास्तविकता समझा दो, अन्यथा मध्यस्थ रहो और उसकी मूर्खता पर या विचार-भिन्नता पर झुंझलाओ नहीं, और न असहिष्णु बनकर लड़ने-झगड़ने का प्रयत्न करो; क्योंकि वह अपने स्वभाव या ज्ञान की निर्बलता के कारण अपनी इच्छानुसार कार्य करने के लिये विवश है और तुम्हारी ही तरह अपने स्वतंत्र विचार रखने एवं कार्य करने के लिये पूर्ण स्वतंत्र भी है।

अपने विचारों को उदार, सहिष्णु और पक्षपात विहीन बनाने के साथ ही प्रत्येक व्यक्ति के हित की दृष्टि से यह उसका प्रथम कर्तव्य है कि वह अपनी नीति एवं भावना को असत्य का परिहार कर ईमानदारी से सत्यग्रहण करने की बनावे और यह निश्चय करें कि जो सत्य हो वही अपना है। इस उदार भावना एवं दृष्टिकोण के साथ वस्तु को यथार्थ रूप में जानने की इच्छा रखने वाला और एक बात या गुण को पकड़ कर शेष की ओर से आँखें बन्द न करने वाला मनुष्य ही वास्तविक विचारक और वस्तु तत्व का ज्ञाता व दृष्टा बन सकता है, तथा तभी संसार में विद्यमान दार्शनिक मतभेदों का सरलता के साथ समन्वय भी हो सकता है।

इस प्रकार की तात्त्विक दृष्टि से साम्प्रदायिकता (संकुचित विचारों) से परे रहकर दुनियाँ के प्रत्येक मानव को मतभेद रहते हुवे भी परस्पर में मित्रता के साथ रहने, सत्य को शुद्ध हृदय से ग्रहण करने तथा फूट-कलह विसंवाद व विरोध को दूर कर जीवन मे समता, स्वतंत्रता, निर्भयता और उदारता की स्थापना करने की आवश्यकता का अनुभव कर तीर्थंकरों ने घोषणा की कि मतभेद मात्र से किसी से घृणा और द्वेष करना कदापि धर्म नहीं हो सकता। धर्म का उद्देश्य तो बिषमता तथा द्वेष का अन्त कर ससार में समता और प्रेम को स्थापित करना है। अतः यदि कोई व्यक्ति या धर्म समाज में परस्पर द्वेष, साम्प्रदायिकता, विषमता, हिसा, कलह या फूट का बीज बोता है तो वह धर्म नही अधर्म है और उसका प्रचारक धर्मात्मा नहीं, पापी है। सत्य और शान्ति के समर्थक प्रत्येक

व्यक्ति का यह परम कर्तव्य है कि वह ऐसे असद्विचारों को हृदय में तनिक भी स्थान न दे। विश्वबंधुत्व, विश्व समदर्शिता एवं स्याद्वाद नय गर्भित अनेकांतमयी उदार सिद्धान्तों की घोषणा करते हुए तीर्थंकरों ने प्राणिमात्र को सुखी बनाने के उद्देश्य से जो भी तथ्य और सत्य पर आधारित मार्ग दर्शन दिया है उसे लोक में—

"जैन धर्म"

के नाम से जाना जाता है। इसका नाम 'जैन धर्म' इसलिये है कि जिन महापुरुषों ने इंद्रियां, विषय कषायों या रागद्वेषादि आत्म शत्रुओं पर पूर्ण विजय प्राप्त कर आत्मा को परमात्मा बनाकर पूर्ण ज्ञान और सुख संपन्नता प्राप्त की है उन्हें जिन कहते हैं। इनके द्वारा अन्य दुखी प्राणियों को जो अपने ही समान परमात्मा और सुखी बनाने का मार्ग प्रशस्त किया जाता है उसे जैनधर्म कहते हैं। दूसरे शब्दों में आत्मा को परमात्मा और सुखी बनाने का मार्ग ही जैनधर्म है। संपूर्ण प्राणियों का समान रूप से हितकारक होने के कारण यही सार्वधर्म, आत्म-धर्म अथवा विश्वधर्म भी स्वतः सिद्ध है।

प्रत्येक आत्मा अपने स्वाभाविक ज्ञान, दर्शन सुखादि अनन्त गुणों का पुंज है; किन्तु संसार दशा में उसके गुण अविकसित और विकृति को प्राप्त है—जिन्हें विकसित और शुद्ध करना ही आत्मा को परमात्मत्व की ओर ले जाना है और यही वास्तविक सुख का मार्ग है। पाप-वासना विहीन आत्मा की यही विकासोन्मुखी पावन परणति ही वस्तुतः धर्म है। धर्म का आचरण करने से मानव को न केवल परलोक में, अपितु

तत्काल भी आकुलता का आंशिक अभाव होकर अपूर्व आनन्द एवं आत्मशांति का अनुभव होने लगता है। अतः धर्म वस्तुतः देव मंदिरो या मूर्तियो मे, तीर्थक्षेत्रों या धर्मशास्त्रों में, समाविष्ट होकर रहने वाली वस्तु नही है। मंदिर, भगवान की मूर्तियाँ या तीर्थस्थान तो अपने इन गुणों का विकास करने के साधन हैं और चूँकि साधनों से ही साध्य की सिद्धि हुआ करती है इसलिये इन धर्मस्थानों की भी यथायोग्य प्रतिष्ठा करते हुवे उनसे आत्महित साधन करने का प्रयत्न करना चाहिये। किन्तु यह याद रखना चाहिये कि मंदिरों, मूर्तियों, तीर्थस्थानों अथवा पूजा, प्रार्थना आदि के नाम पर उन्मत्त होकर दूसरों पर टूट पड़ना और खून बहाना कभी भी धर्म नही हो सकता। जो ऐसा करते हैं वे मूर्खतापूर्ण अनधिकार चेष्टा कर स्वयं को व दुनियाँ को ही दुखी नही बनाते, बल्कि अपने आपको भी धोखा देते है और धर्म के नाम पर पाप कर धर्म के नाम को भी कलंकित करते हैं।

सुख का प्रशस्त मार्ग (सम्यग्दर्शन)

यह पहले ही कहा जा चुका है कि प्रत्येक आत्मा मे वैसे ही गुण स्वभावतः विद्यमान हैं जैसे परमात्मा मे हैं। किन्तु परमात्मा मे वे गुण विकास को प्राप्त होकर पूर्ण शुद्ध हो चुके हैं और ससारी आत्माओ के वे ही गुण कर्म बंधनो से बंधे रहने तथा रागद्वेषादि विकारों के कारण अव्यक्त और अशुद्ध बने हुवे है। जो अपने मे अनन्त ज्ञानादि गुणो की शक्ति रूप में झलक पाकर अपने वास्तविक स्वरूप को समझ उसका अनुभव करने लगता है और यह अटल श्रद्धा कर लेता है कि मैं अपनी

आत्मा को सद्प्रयत्नों द्वारा कर्म कलंक से दूर कर परमात्मा बना सकता हूं, उसे सम्यग्दृष्टि और उसकी उक्त श्रद्धा को सम्यग्दर्शन कहते हैं। यह सम्यग्दर्शन ही धर्म की आधारशिला है। जिसे आत्मा व उसके पवित्र हो सकने पर विश्वास नहीं है और जो भ्रमवश पाँच अजोव तत्वों के सम्मिश्रण से (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश के मिलाप से) आत्मा की उत्पत्ति व मरने के बाद अपने को मिट्टी में मिल जाना समझता है वह भ्रमित होने से धर्म के मार्ग पर कदापि अग्रसर नहीं हो सकता और हो भी तो किसलिये, जबकि वह मरने के बाद अपने अस्तित्व को ही स्वीकार नहीं करता। ऐसे नास्तिक मनुष्यों के जीवन का उद्देश्य केवल भोग-विलास और उनकी सामग्रियों का संचय करना मात्र रह जाता है। वह पुण्य पापादि भी मानना नही चाहता। इसलिये वह जब तक जीवित रहेगा तब तक वासनामय जीवन बिताकर स्वयं भी अशांत व दुखी बना रहेगा एवं दूसरों को सताकर संसार में भी अशांति उत्पन्न करेगा। किन्तु जो आत्मा को शारीरादि अजीव तत्वों से भिन्न अनुभव कर उसके वास्तविक ज्ञानानन्दमय स्वरूप की प्राप्ति कर सुखी बनाना चाहते हैं वही आत्मोन्नति के पवित्र मार्ग पर अग्रसर होकर अपने साथ दूसरों को भी सुखी बनाने का सप्रयत्न करते रह सकते हैं।

सम्यक्दर्शन का स्वरूप

आत्मोन्नति की ओर अग्रसर होने के लिये हमे अपने और विश्व के स्वरूप को ठीक-ठीक देखना जानना होगा। जब तक हम यह नहीं जानेंगे तब तक अपने उद्धार या दूसरों की सेवा का

पवित्र कार्य करना हमारे लिये असम्भव ही रहेगा। स्वत: हम एक शरीरादि अचेतन वस्तुओं से भिन्न ज्ञान, दर्शन, सुखादि गुण सम्पन्न आत्मा नाम के सचेतन पदार्थ हैं। हमारा आत्मा न तो कभी नष्ट होता और न कभी उत्पन्न। यह एक अमूर्तिक (आँखों से नही दीखने वाला) अखण्ड (टुकड़े न होने वाला) और अनादिकाल से अनन्तकाल तक स्वतन्त्र अस्तित्व रखने वाला चेतन द्रव्य है। हम जैसे आत्माओ की संख्या अनन्तानन्त है—जो प्रत्यक्ष ही दिखाई देती है। इनमे से प्रत्येक का आकार अपने-अपने शरीर के बराबर है। आत्म प्रदेशो में संकुचित होने (सिकुड़ने) और फैलने की शक्ति प्रकाश की भाँति विद्यमान है। इसके प्रदेश यदि फैलने लगे तो एक ही आत्मा तीनों लोक मे भी व्यापक हो सकता है। अनादिकाल से यह आत्मा कर्मों से बंधा रहने और राग, द्वेष, मोहादि में उलझे रहने से संसार में नाना प्रकार के कष्टों को भोगता हुआ मनुष्य, तिर्यंच, देव और नारकी इन गतियो में परिभ्रमण करता चला आ रहा है। यदि वह सम्यग्दृष्टि बनकर राग द्वेषादि न करे और पूर्वबद्ध कर्मो की शृंखलाओं को नष्ट कर दे तो अपनी शुद्ध स्वाभाविक परमात्म दशा को प्राप्त होकर पूर्ण सुखी बन सकता है। यही आत्मा की ज्ञानानंद स्वरूपानुभूतिपरक श्रद्धा सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दृष्टि जीवन में निर्भय और निःशंक बनकर रहते हैं, क्योंकि वे समझते हैं कि आत्मा स्वभावतः अजर, अमर, शाश्वत और स्वतंत्र पदार्थ है। नश्वर शरीर या अन्य किसी वस्तु के संयोग से आत्मा का न तो भला होता और न बुरा। वे बाह्य वस्तुओं के संयोग, वियोग एव उनके

निमित्त से होने वाले कल्पित सुख-दुखादि को अपने पूर्वोपार्जित कर्माश्रित फल समझते हैं और उनमें आत्मा का हिताहित अनुभव नहीं करते। अतः जिस क्षण से आत्मा में सम्यग्दृष्टि प्रकट होती है उसी क्षण से उसके दृष्टि मोह का अन्त हो जाने से भ्रमजनित अनेक मानसिक दुखों का अभाव होकर अभूतपूर्व आत्मिक सुख-शांति का अनुभव होने लगता है।

सम्यक्दर्शन के प्रमुख साधन

अनादिकाल से मोह माया के कुचक्र में फँसे हुवे इस जीव को सम्यग्दर्शन का होना तभी संभव है जब किसी वीतराग एवं सर्वज्ञ आप्त पुरुष के सान्निध्य में उसकी पवित्र वाणी के श्रवण से या सद्गुरु के मार्गदर्शन से इसमें स्व-पर विवेक की जागृति होगी। इसके लिये सत्यार्थ आप्त, उसकी पवित्र वाणी (आगम) और सद्गुरु के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान और पहिचान भी आवश्यक है (जिनकी वाणी तत्वज्ञान की प्राप्ति में सहायक होकर मार्गदर्शन कराती है)।

सत्यार्थ आप्त वही हो सकता है जो आत्म विकारों-पर विजय प्राप्त कर पूर्ण सुखी बन स्वयं परमात्म दशा को प्राप्त है तथा अन्य दुखी प्राणियों को अपने जैसा बनाने का मार्गदर्शन देकर विश्व का भी हित साधन करता है। शास्त्रीय भाषा में उसे आप्त एवं लोकभाषा में सच्चा देव, भगवान्, तीर्थंकर, परमात्मा, अरहन्त, जिनेन्द्र आदि कहा जाता है। वीतरागता, सर्वज्ञता और हितोपदेशिता ये तीन उसके विशेष चिन्ह हैं—जिनके द्वारा आप्तता परिलक्षित होती है। यदि आप्त (देव) वीतरागी न होकर संसारी जनों के समान ही

रागी, द्वेषी मोही या कामी, क्रोधी, मायावी आदि होगा तो वह आप्त या परमात्मा कहलाने का अधिकारी नहीं हो सकता। जिसने स्वयं ही अपने विकारो पर विजय प्राप्त नहीं की और जिसकी आत्मा सदोष है—संसार चक्र मे फँसा हुवा वह विकारी व्यक्ति अपने को परमात्मा या आप्त कहलाने का स्वयं भी दावा नही कर सकता और न आत्मकल्याण के इच्छुक अन्य जनों को ही उसे परमात्मा मानकर उपासना करना चाहिये। वीतराग होने के साथ ही परमात्मा को पूर्ण ज्ञाता, दृष्टा, (सर्वज्ञ) होना भी नितान्त आवश्यक है। जिसकी आत्मा में ज्ञान पूर्ण रूप में विकसित नही हुआ है-किसी रूप में भी अज्ञता विद्यमान है, वह दूसरों को आत्मा, परमात्मा आदि तत्त्वों का यथार्थ ज्ञान देकर उनकी तत्व विषयक जिज्ञासा पूर्ण कदापि नही कर सकता और न फिर कोई मुमुक्षु उसे आस्था के साथ आप्त के रूप में अपना मार्गदर्शक ही मान सकता। सर्वज्ञता और वीतरागता के साथ ही आप्त मे हितोपदेशिता का होना भी परमावश्यक है—जिसके द्वारा वह विश्व के अन्य प्राणियो को भी मुक्तिपथ प्रशस्त करता हुआ आप्त पद पर प्रतिष्ठित होता है।

उल्लिखित गुणो से विशिष्ट कोई भी व्यक्ति आप्त, सत्यार्थ देव, तीर्थंकर परमात्मा जिनेन्द्र, भगवान आदि किसी भी नाम से कहा और पूजा जा सकता है। ऐसे देव के गुणों की उपासना नाम का मोह और पक्षपात को छोडकर करना आत्म गणों के विकास में सहायक होने से अत्यन्त आवश्यक है; किन्तु रागी, द्वेषी, मोही कामी क्रोधी आदि देवी-देवताओं की

उपासना न तो गुणों के विकास में सहायक है और न उससे किसी का कल्याण ही संभव है, प्रत्युत् राग द्वेषादि के कुचक्र में फंसकर दिग्भ्रांत होना निश्चित है। अतः मुमुक्षु को आप्त की पहिचान कर ही उपासना करना चाहिये। आप्त पुरुषों के साक्षात् समागम के अभाव मे आगम (उनकी वाणी) का सहारा लिया जाता है। आगम भी वस्तुतः वही श्रद्धेय और पठन-पाठन के योग्य है जिसके द्वारा यथार्थ तत्व ज्ञान का विकास हो, मोह एवं राग द्वेषादि भावों पर विजय प्राप्त करने मे मार्गदर्शन मिले, जिसमें सब के हित का उपदेश हो, जिसके पढने से चारित्र का विकास और पापो से विरक्ति हो तथा जिसमें प्रतिपादित सिद्धान्त किसी प्रमाण से बाधित न हों। इसके विपरीत जिन शास्त्रों के पढ़ने से राग, द्वेष, मोह अथवा कामादि विकारों की अंतस् में वृद्धि हो, पापों से रुचि बढे व सत्कर्म से अरुचि हो जाय, तथा न्याय नीति का परित्याग कर अन्याय और अनीति के मार्ग का अनुसरण करने की प्रेरणा मिले, वह शास्त्र नहीं-शस्त्र है। ऐसे साहित्य के पठन-पाठन से आत्मकल्याण के इच्छुक मनुष्य को सदा ही दूर रहना चाहिये।

सद्गुरु भी वीतराग–मार्ग का अनुगामी, इन्द्रिय-विषय वासना से रहित, समदर्शी, पाप कषाय विहीन, आरम्भ (हिंसा कार्य) से रहित, निर्ग्रन्थ एवं ज्ञान, ध्यान, तप, निरत, सत्य निष्ठ और निर्व्यसनी होना चाहिये, जो मुक्ति पथ की स्वयं साधना करता हो और शिष्यों को भी कराता हो। अज्ञानी, विषयी, कषायी, व्यसनी और पाखंडियों में सद्गुरुत्व की पात्रता (मुक्ति मार्ग में) नितान्त असंभव है। ऐसे गुरु नामधारी व्यक्तियों से जितना दूर रहा जावे–आत्महित की दृष्टि से

उतना ही श्रेयस्कर है। जो स्वयं ही राग द्वेष, और मोह में उलझा हुवा विषय कषायों मे निमग्न है वह दूसरों को सन्मार्ग पर अग्रसर किस भाँति कर सकता है? गुरु को तारण तरण जहाज के समान कहा और माना जाता है; किन्तु पत्थर की नाव के समान साधु वेशी पाखंडी स्वयं भी डूबते हैं और अपने उपासकों को भी डुबाते हैं, अतः सावधान रहकर निर्ग्रन्थ और निष्कषाय ज्ञानी गुरुओं की शरण लेकर आत्म-कल्याण का मार्ग प्रशस्त करना ही श्रेयस्कर है।

इस प्रकार चूँकि सत्यार्थ आप्त (देव), आगम (शास्त्र) एवं निर्ग्रन्थ गुरुओ पर तथा उन द्वारा उपदिष्ट तत्वों पर यथार्थ रूप मे श्रद्धान कर ही मनुष्य सम्यग्दृष्टि बन सकता है। इसलिये देव शास्त्र गुरु पर सर्व प्रथम श्रद्धा करना सम्यग्दर्शन की प्रारंभिक सीढ़ी या साधन है। तथा कारण में कार्य का उपचार कर उनकी श्रद्धा को सम्यग्दर्शन भी कहते हैं। सम्यग्दर्शन प्रारंभ भी इसी से होता है। अतः ससार से मुक्त होने के लिये आप्त पुरुषों का तथा उन द्वारा संदर्शित तत्वों के स्वरूप का श्रद्धान करना परम आवश्यक है।

सम्यग्ज्ञान

तत्वश्रद्धान पूर्वक सम्यक्दर्शन की उपलब्धि के साथ ही आत्मा में जो स्व-पर विवेकपूर्वक आत्मा व अन्य वस्तुओं के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान होता है वही सम्यग्ज्ञान है। बहु संख्या मे शास्त्रों का अध्ययन कर लेने और बाह्य जगत के ज्ञान विज्ञान का धनी बन जाने पर भी यदि आत्मा को अपने स्वरूप का यथार्थ मे भान नहीं है तो वह व्यक्ति सम्यग्ज्ञानी बनने या

कहलाने का पात्र नही हो सकता, किन्तु अन्य बहुत बातें न जान-कर भी आत्म स्वरूप को भलीभाँति जानने वाला सम्यग्ज्ञानी है। सम्यग्ज्ञानी व्यक्ति ही स्व-पर हित साधन करने में समर्थ और सफल होते हैं। अतः जिस प्रकार भी हो यथार्थ में आत्मा आदि तत्वों का ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिये। आगम का अभ्यास, सद्गुरु का उपदेश, वीतराग देव का दर्शन आदि उसके सहज साधन हैं। अतएव पूर्वाग्रहों का परित्याग कर जिज्ञासु भाव से निष्पक्ष होकर वीतराग वाणी के पठन, श्रवण एवं तत्वानुशीलन द्वारा सम्यग्ज्ञान प्राप्त करना मुमुक्षु का परम कर्तव्य है। सम्यग्ज्ञान बिना दुखों से मुक्ति प्राप्त करना असंभव है।

सम्यग्दर्शन और ज्ञान के प्रकट हो जाने पर सम्यक्चारित्र का पालन करना आत्मा की शुद्धि के लिये नितांत आवश्यक है। उसका पालन करना ऐसे ही है जैसे कि निरोग बनने के लिये रोग की ठीक-ठीक औषधि जान लेने और उस पर विश्वास कर लेने के बाद औषधि का सेवन करना और कुपथ्य का सेवन न करना। जैसे बिना दवा खाए रोग को नष्ट करने मे असमर्थ है वैसे ही यह जान लेने और विश्वास कर लेने पर भी कि मैं परमात्मा बन सकता हूँ और मुझ में भी वही शक्तियाँ विद्यमान हैं जो परमात्मा में है यदि मुमुक्षु व्यक्तिअपनी आत्मा को परमात्मत्व की ओर ले जाने वाले व्रत, शील, संयम, तपश्चरण क्षमा आदि भावों व कार्यों में प्रवृत्ति नही करता और हिंसादि पाप व क्रोधादि कषायमय दुर्भावों को करने रूप कुपथ्य सेवन करता है तो वह दुखों से कैसे मुक्त हो सकता है?

यह कहना या मानना ठीक नही कि भाव पवित्र होना चाहिये, क्रिया चाहे कुछ भी करो, क्योंकि भावों को पवित्र रखने के लिये बाह्य आचरण में भी शुद्धि होनी, चाहिए जबकि पापों में प्रवृत्ति भावों मे विकारो और अनुराग के बिना नहीं होते। कभी-कभी दृढ़ता के अभाव में परिस्थितिवश श्रद्धा के विपरीत आचरण भी करना पड़ता है, किन्तु उस दशा में आत्मा अपने कर्त्तव्य से डिग जाने से किन्ही अशों मे पतित ही माना जाता है। पवित्र नहीं।

इस प्रकार श्रद्धा में यथार्थता, ज्ञान मे वास्तविकता और चारित्र में निर्मलता को ही वस्तुतः धर्म कहते हैं, जिसके प्रभाव व आचरण से महान् पापिष्ठ तथा पतितात्माएँ भी पावन और परमात्मा बन सकती है। अतः कल्याण और आत्मोन्नति के इच्छुक प्रत्येक व्यक्ति को चाहे वह किसी भी वर्ग, जाति और देश का क्यो न हो, अपनी योग्यतानुसार उपरोक्त रत्नत्रय, अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र मयी धर्म को धारण करना चाहिए।

धर्म किसी व्यक्ति, जाति, समाज या वर्ग विशेष की सपत्ति न होकर प्राणिमात्र की सपत्ति है, अत प्रत्येक व्यक्ति को उससे अपना कल्याण करने का अधिकार है। जो धर्म किन्ही विशेष व्यक्तियो, जातियो अथवा वर्ग के लोगों तक ही सीमित रहता है और प्राणिमात्र का भला करने अथवा उनको सहारा देने से इन्कार कर देता है या परस्पर मे विद्वेष और घृणा फैलाकर संसार में अशांति उत्पन्न करता है तो वह सार्व या वास्तविक प्राणि-धर्म कहलाने का अधिकारी कदापि नही हो

सकता। धर्म वही है जो व्यक्ति और समाज में समता, स्वतंत्रता, आत्मनिर्भरता और पवित्र प्रेम का संचार करते हुए आत्मा और विश्व को सुखशांति प्रदान करता है, पतित को पावन बनाता है एवं आत्मा का परमात्मत्व की ओर ले जाता है।

धर्म की उपर्युक्त सार्वजनिक एवं सार्वभौम वैज्ञानिक व्याख्या कर संसार के प्रत्येक प्राणी मात्र के हितों की व्यापक रूप में रक्षा करने हेतु तीर्थंकरों ने विश्वधर्म की सुदृढ़ नींव रखते हुए हमें सचेत भी किया है कि प्रत्येक व्यक्ति को ससार में धर्म के नाम पर होने वाले क्रियाकांडों, रूढ़ियों और पाखंडों पर कभी भी अंधविश्वास न करना चाहिये। जिस धर्म की साधना द्वारा हम अपने जीवन को पवित्र बना संसार समुद्र से पार होकर आत्मा को सुखी व परमात्मा बनाना चाहते हैं उसका अन्ध श्रद्धापूर्वक सहारा लेना बुद्धिमत्ता नहीं है। इसलिये प्रत्येक समझदार मुमुक्षु का यह भी कर्तव्य है कि वह सत्य की कसौटी पर धर्म से संबद्धित प्रत्येक वस्तु को कसे और तदुपरान्त उस पर विश्वास व आचरण करे।

तत्व विचारणा

वस्तु के वास्तविक स्वरूप या स्वभाव को तत्व कहते हैं। प्रत्येक वस्तु अपने-अपने गुण पर्यायात्मक स्वभाव युक्त होकर उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यमयी स्वतंत्र अस्तित्व को लिये हुवे है। यूं तो वस्तुओं की सख्या अनन्तानन्त है, जिनका पूर्णज्ञान परमात्मदशा मे ही संभव है, किंतु यहाँ तत्व विचारणा मे हमें उन प्रयोजनभूत तत्वों पर ही विचार करनाहै जिन्हें जानकर

हम सब प्रकार के दुखो से मुक्ति प्राप्त कर आत्मा का कल्याण कर सकें— पूर्ण सुखी (परमात्मा) बन सके।

हम क्या है, हमारा स्वरूप क्या है? हम दुखी क्यों हैं और दु:ख का मूल क्या है? हम क्यों जन्म-मरण के कुचक्र मे फँसे हुए संसार में परतन्त्र बने हुए परिभ्रमण कर रहे हैं और किस भाँति उससे छुटकारा पाकर सुखी बन सकते है? स्थिर व आकुलता रहित सुख कहाँ है, वह हमें प्राप्त हो सकता है या नही? आदि विषयो पर दुराग्रहों का परित्याग कर जिज्ञासु भाव से विचार करने, जानने और अनुभव करने से ही हम आत्म कल्याण करने में समर्थ हो सकते हैं। अत: यहाँ इन्ही पर संक्षेप में प्रकाश डालना है। मूलत: तत्व जीव (आत्मा) और अजीव दो भागों में विभाजित है। जीव (चित्स्वरूप) ज्ञानदर्शन आनन्द संपन्न (चैतन्यमयी) पदार्थ है, जो जीवत्व सामान्य दृष्टि से वह एक और संख्या एवं व्यक्ति स्वातत्र्य की दृष्टि से अनेक है। सूक्ष्म से सूक्ष्म जन्तुओं से लेकर प्राणि-मात्र मे आत्मतत्व विद्यमान है जो सुख-दुखादि का अनुभवन करता हुआ स्व-संवेदन द्वारा भली भाँति "मैं हूँ" इस प्रकार अनुभव में आता है। अजीव चेतना विहीन (जड़) पदार्थों को कहते हैं। जातिगत लक्षणों के भेद से अजीव ५ प्रकार के हैं। १. पुद्गल (Matter) जिसे प्रकृति भी कहते है। २. धर्म (गति तत्व) जिसे संभवत: वैज्ञानिक ईथर कहते हैं। ३. अधर्म (स्थैर्य तत्व) ४. आकाश (अवगाहन तत्व) ५. काल (परिवर्तन में सहायक तत्व)।

उल्लिखित ५ अजीव—और जीव इस प्रकार द्रव्य (कुल मिलाकर) छह हैं। ये सब ही अकृत्रिम, अनादि और अविनाशी

हैं। इनमें जीव तत्व संसारी और मुक्त (परतंत्र-दुखी तथा स्वतंत्र-सुखी) इस प्रकार दो श्रेणियों में विभक्त है। इन्हें जीवात्मा और परमात्मा भी कहते हैं। इनमें संसारी जीव अनादि से ही पुद्गल के अजीव परमाणुओं से संबंधित होकर अपने विभाव परिणमन द्वारा मोही एवं रागी द्वेषी बना हुआ नाना योनियों में जन्म धारण कर दुःख भोग रहा है। दुखों को भोगते हुए यह जीव राग द्वेष (क्रोध मान, माया, लोभादि कषायों) को करने लगता है। इन विकार भावों को ही जीव की क्रिया होने से कर्म (भाव कर्म) कहते है। और इन्हीं विकार भावों पूर्वक मन, वचन और काय की क्रिया के द्वारा शरीरों में व्याप्त आत्मा में जो हलचल मच जाती है उस से आत्मा के प्रदेशों में (राग द्वेषादि) भावों द्वारा आकर्षित हो पुद्गल के परमाणु कर्म रूप धारण कर आत्मा से बंध जाते है। उन बंध दशा को प्राप्त परमाणुओं को ही द्रव्य कर्म कहते हैं। यतः कषाय भावों द्वारा आत्मा में विद्युत् जैसी आकर्षण शक्ति का उदय होता है जिससे परमाणु अपने आप खिचकर बंध को प्राप्त होते हैं, और वे बंधे हुए कर्म परमाणु आत्मा के तीव्र मंद रूप रागादि भावों में रंगे हुए होने से यथासमय जब वे सुख दुख रूप में फलित होते हैं (स्वयं उदय में आते हैं) तब आत्मा को उनके उदय में नवीन सुख-दुख का अनुभव होने लगता है। इस कारण उन्हें द्रव्य कर्म कहते हैं। इन जीवकृत कर्मों को ही भाग्य, विधाता, दैव, तकदीर, विधि आदि अनेक नामों से कहा जाता है। जब जब बंधे हुए कर्म उदय में आते हैं और उससे सुख-दुःखानुभवन कर आत्मा नवीन रागादि भावों को करने लगता है तब-तब उनके निमित्त से फिर नवीन

परमाणु आकर्षित होकर आत्मा से बंधने लगते हैं। इस प्रकार यह क्रम अनादि से चल रहा है। जैसे बीज वृक्ष की परम्परा अनादि है वैसी ही कर्म और उनके फलस्वरूप होने वाली जन्म-मरण की परम्परा भी अनादि है। कर्म करने और उसका फल भोगने में भी जीव स्वतंत्र है। न तो जीव से कोई कर्म कराता है और न कोई (ईश्वरादि) कर्मों का फल ही प्रदान करता है।

उक्त कर्म और कर्म फलों की परम्परा अनादि होकर भी टूट सकती है। जैसे बीज के भून लेने या जला देने पर उससे नवीन वृक्ष उत्पन्न नहीं होता उसी प्रकार उदयागत कर्मों के सुख-दुखादि फलों मे आत्मा जब रागद्वेष व हर्ष विषाद नहीं करता तब नवीन कर्म का बंध नही होता तथा विवेक व वैराग्य भाव पूर्वक की गयी तपस्या व ध्यान और वीतराग परणति द्वारा बंधे हुवे अनुदय को प्राप्त कर्मो को भी बिना फल दिये ही दूर करते हुए घातिया कर्मो का नाशकर वह शुद्ध चिदानन्द स्वरूप को प्राप्त होकर जीवन मुक्त अरहन्त परमात्मा बन जाता है। इसी परमात्म दशा को प्राप्त आत्मा को आप्त और सच्चा देव कहते है, जो संसारी जीवों को स्वय वीतराग होकर भी मार्गदर्शन देकर परमात्मा बनने का मार्ग प्रशस्त करता है। जब अरहन्त परमात्मा के आयु कर्म की स्थिति समाप्त हो जाती है तब वह शरीर एवं संपूर्ण कर्मो के बधनों से सदा के लिये मुक्त होकर सिद्ध परमात्मा बन जाता है। इस पूर्ण परमात्म दशा को प्राप्त करना ही मानव का चरम ध्येय होना चाहिये। जिस भांति खानि का सोना अनादि से ही कीट-कालिमादि मलो से मिलन दशा मे अशुद्ध रहता है,किन्तु बुद्धिमान उसे शुद्धि-

करण की प्रक्रियाओं द्वारा शुद्ध कर लेता है—उसी प्रकार अनादि से कर्म मलों से लिप्त आत्मा को भी बुद्धिमान विवेकपूर्वक तपश्चरण और ध्यान के द्वारा शुद्ध कर परमात्मा बना लेते है। दूसरे शब्दों मे मोही जीव अपने विकारी भावों पर विजय प्राप्त कर शुद्ध (परमात्मा) बन जाता है। इसका उत्थान और पतन इसके अपने शुद्धाशुद्ध भावों और तदनुसार किये गये प्रयत्नों पर निर्भर है। इसमें किसी दूसरी शक्ति का कोई कर्तृत्व नहीं है।

इस संदर्भ मे यदि शास्त्रीय भाषा में कहा जाय तो रागादि विकारों एव मन-वचन-काय की चचलता से कर्म परमाणुओं का आत्मा की ओर खिचना आस्रव तत्व है। आत्म विकारों द्वारा कर्म परमाणुओं का आत्मा के प्रदेशों से बंध जाना-दूध पानी की तरह मिल जाना बध तत्व है। निर्विकार भावों से नवीन कर्म-बंधन का रुक जाना संवर तत्व है। तथा वीतराग भावों युक्त आत्मलीनता से पुरातन बंधे हुए कर्मों का अंश रूप में क्षय होना—निर्जरा तत्व है। कर्मों की निर्जरा होते होते सपूर्ण कर्मो का आत्मा से पृथक् हो जाना मोक्ष तत्व है। यह बंधनों से मुक्ति ही आत्मा की शुद्धि है और यहीं आत्मा की स्वाभाविक स्थिति है जिसमें वास्तविक आकुलता रहित शाश्वत सुख की प्राप्ति होती है और इसे प्राप्त करना ही प्रत्येक सम्यग्दृष्टि का उद्देश्य रहा करता है।

सम्यग्दृष्टि की विशेषताएं

जो व्यक्ति उल्लिखित तत्वों का ज्ञान प्राप्त कर उन पर दृढ़ श्रद्धान करता हुवा आत्मस्वरूप का अनुभव कर सम्यग्दृष्टि

बन जाता है उसमें कषायों की मंदता, संसार के विषय-भोगों में उदासीनता, अन्य दुखी प्राणियों के प्रति अनुकंपा, सहानुभूति एवं परमात्मत्व में दृढ़ आस्था स्वयमेव प्रकट होने लग जाती है। तथा उसमें जो अन्य विशेषताएं प्रकट होती हैं वे निम्न प्रकार हैं:—

निःशंकिता

"जीवादि तत्व—जो वीतराग सर्वज्ञ (आप्त पुरुषों) के द्वारा उपदिष्ट हैं—वे ही वस्तुतः तत्व हैं और जिस प्रकार उनका स्वरूप उन्होंने दर्शाया है वह भी उसी प्रकार का है, अन्य नहीं है, न अन्य प्रकार है।" इस भाँति अन्तरात्मा में दृढ़ श्रद्धा करता हुआ सम्यग्दृष्टि जीवन में निःशंक रहा करता है। उसे किसी प्रकार का इस लोक या परलोक सम्बन्धी भय नहीं रहता, न वह अपने को कभी दीन-हीन अनाथ समझ दीनता-हीनता या कायरता से अभिभूत होकर किसी आकस्मिक विपत्ति से भयभीत होता है। वह सुख, दुख, जीवन-मरण आदि को अपने पूर्वजन्म कृत कर्मों का फल जानकर समभावपूर्वक सब परिस्थितियों का वीरता से सामना करता हुआ दृढ़ चित्त और निशंक रहा करता है। यह उसकी प्रथम विशेषता है।

निष्कांक्षिता

धर्म सेवन के उपलक्ष्य में सम्यग्दृष्टि संसार के इन्द्रियजन्य तुच्छ विषय-सुखों या उच्च पदों की चाह कदापि नहीं करता; क्योंकि ये सुखाभास होने से संसार परिभ्रमण

के ही कारण हैं, जबकि धर्म का सेवन संसार से मुक्त होने और आत्मा को परमात्मा बनाने के लिये किया जाता है। जो व्यक्ति सुखी बनने के लिये इन्द्रियों के भोगों के सेवन की आकांक्षा रखता है, समझना चाहिये कि वह अभी सम्यग्दर्शन से कोसों दूर है; क्योंकि संसार के भोगों में दुख के सिवाय सुख है ही नहीं। जो विषय सुखों को सुख समझते हैं वे भ्रम से निर्मुक्त नहीं कहे जा सकते। जिन विषयों को वे सुख मान रहे हैं उनके स्वरूप पर विचार करें तो ज्ञात होता है कि प्रथम तो यथेष्ट विषयों का समागम ही पराधीन है—पूर्वकृत पुण्य कर्म का उदय होने पर ही इष्ट की प्राप्त होती है, फिर प्राप्त होकर कुछ क्षणमें ही वह बिछुड या नष्ट हो जाती है। साथ ही जिसके भोगने में एक न एक दुख या बाधा भी बनी रहती है। और उसे तन्मय होकर भोगने पर पाप का बंध भी होता है—जो भविष्य में दुखदायी है। ऐसे विषय जन्य सुख को सुखाभास अनुभव कर वह उसकी चाह नहीं करता। वह समझता है कि यदि संसार में सुख होता तो महापुरुष इसका त्याग कर तपस्या के मार्ग का अनुसरण एवं अपने में ही सुख की खोज और विश्राम नहीं करते। अतः ऐसा विचार कर अनासक्तिपूर्वक अपना जीवन यापन करना ही निःकांक्षित गुण है। जो सम्यक्दृष्टि की दूसरी विशेषता है।

निर्विचिकित्सा

चिकित्सा ग्लानि या घृणा करने को कहते हैं। चूंकि—

सम्यग्दृष्टि यह भी भलीभांति जानता है कि संसार में जीवों की दीनहीन, रुग्ण-स्वस्थ, धनी-निर्धन, सुखी-दुखी, उच्च नीच, सबल-निर्बल आदि जो अवस्थाएं हुआ करती हैं वे उनके पूर्वकृत शुभाशुभ कर्मों के फल हैं; किन्तु मुझ जैसी आत्मा

सब मे है—जो स्वभाव से दीन हीन, रुग्ण स्वस्थादि न होकर परमात्म स्वरूप है। यदि कोई दीन हीन रुग्ण दशा में है तो वह ग्लानि और घृणा का पात्र न होकर करुणा और सहानुभूति का पात्र है। अतः दीन हीन व्याधिग्रसित दुखी प्राणियों की सेवा करना ही अपना कर्तव्य समझकर उनकी यथायोग्य परिचर्या करना अपना धर्म है। ऐसा समझकर किसी भी प्राणी या वस्तु से घृणा या ग्लानि न कर विनम्रता पूर्वक सेवा की भावना से उनके कष्टों को दूर करने की चेष्टा करना और धर्मात्मा साधकों की विशेष रूप से परिचर्या करना निर्विचिकित्सा अंग है।

अमूढ़दृष्टि अंग

सम्यग्दृष्टि को गुण-दोषों की परीक्षा किये बिना ही प्रत्येक देवता को सच्चा देव, प्रत्येक साधुवेशी को सच्चा गुरु अथवा धर्म के नाम पर होने वाली प्रत्येक क्रिया को धर्म न समझ लेना चाहिये, बल्कि उनके पूर्वकथित गुण दोषों द्वारा सत्यासत्य का निर्णय कर, उन पर श्रद्धा व उपासना करना चाहिये। कभी-कभी लोक मे रूढ़ियाँ भी धर्म का रूप ग्रहण कर लेती है। उनके गुण-दोषों पर विचार कर इस प्रकार व्यवहार करना चाहिये जिससे सम्यग्दर्शन व अपने व्रतादि में दोष न लगे। यदि किसी रूढि के सेवन से हमारी धार्मिक श्रद्धा में दोष लगता है या हमारे आचरण में शिथिलता पैदा होती है अथवा धर्म के स्थान पर जिसके सेवन से पाप पाखण्ड व मिथ्यात्व बढ़ता है या दूसरों का जीवन कष्टमय होता है तो उसे तुरन्त ही त्याग देना चाहिये, यही अमूढ़दृष्टि अंग है।

जिसका सम्यग्दृष्टि साहस व दृढ़ता के साथ पालन करता है।

उपगूहन

मनुष्य मे अज्ञानता, प्रमाद और निर्बलता के कारण दोषों का होना साधारण बात है। अतः जो लोग धार्मिक रुचि रखते हैं और धर्मानुकूल आचरण करते हैं उनसे भी कभी-कभी उपर्युक्त कारणों से त्रुटियों का हो जाना संभव है। जैसे कि स्वच्छ वस्त्र पर कालिमा का थोड़ा अंश भी तुरन्त चमकने लगता है और काले वस्त्र पर नही, वैसे ही धर्मात्मा व साधारण पुरुषों मे से दोनों के द्वारा एक समान दोष होने पर भी साधारण पुरुष के दोषों पर लोगों का उतना ध्यान नहीं जाता जितना की धर्मात्मा के दोषों पर और सदाचारी या धर्मात्मा कहलाने वाले पुरुषों में दोष होने पर उन्हें बदनाम करने से उनकी ही बदनामी होती हो, सो बात नहीं है; बल्कि अज्ञानी जन उस धर्मात्मा के दोष को धर्म के साथ लपेटने की भी धृष्टता करने लगते हैं। यद्यपि किसी मनुष्य के पाप करने पर धर्म को बुरा कहना कदापि न्यायसंगत नहीं हो सकता, क्योंकि धर्म सदा ही पवित्र वस्तु है। यदि कोई धर्मात्मा गलती से कोई पाप करता है तो इसमे धर्म का क्या अपराध है? फिर भी न "धर्मो धार्मिकैर्बिना" अर्थात् धर्मात्मा पुरुषों के बिना धर्म नहीं होता, इस उक्ति के अनुसार धर्मात्मा के साथ उनका धर्म भी अवश्य बदनाम हो जाता है। अतः धर्म की निन्दा को रोकने और गुण की वृद्धि करने के लिये यह आवश्यक है कि हमें यदि किसी व्यक्ति में

कोई दोष दिखाई दे तो उसे दूसरों से न कहते फिरे, बल्कि दोषी मनुष्य को ही समझा दें। वह समझदार होगा तो ऐसा करने से हमारा कृतज्ञ होगा और भविष्य में सचेत होकर उस पाप से बचने का प्रयत्न करेगा, अन्यथा धर्म की निन्दा तो रुकेगी ही। धर्मात्मा और सत्यनिष्ठ पुरुषों का भी यह कर्तव्य है कि वे धर्म के नाम पर ढोंग कदापि न रचें और न ऐसा कोई कार्य करें जिससे अपने साथ धर्म की भी निन्दा होने की संभावना हो। हमें यद्यपि गुणों की वृद्धि का लक्ष्य रखते हुए सर्वदा अपनी दृष्टि गुणों की ओर ही रखनी चाहिये—दूसरों के दोषों पर नहीं; किन्तु यदि सम्यग्दृष्टि को यह ज्ञात हो जाय कि अमुक व्यक्ति किसी स्वार्थ वश धर्म के नाम पर ढोंग और पाखंड रच रहा एवं जनता को ठग रहा है, तो उसे धर्म और धर्मात्माओं की प्रतिष्ठा की रक्षा के लिये उस ढोंगी की पूजा न करने व उसे ढोंगी घोषित करने में भी संकोच न करना चाहिये, ताकि जन साधारण उसके द्वारा ठगा न जाय, और लोक में धर्म के नाम पर ढोंग प्रतिष्ठित न हो। यही उप-गूहन अंग है।

स्थितिकरण

यदि कोई मनुष्य अपनी किसी कमजोरी, अज्ञानता-स्वार्थ या लालचवश इन्द्रियों की क्षणिक वासनाओं को तृप्त करने के लिये सदाचार के पथ से भ्रष्ट हो रहा हो या धर्म सेवन करते रहने पर भी अपनी आर्थिक दशा न सुधरने, विपत्तियों पर विपत्तियों के आते रहने अथवा किसी मनोरथ के सिद्ध न होने से धर्म सेवन को ही व्यर्थ समझ, धार्मिक श्रद्धा से विमुख

हो रहा हो तो उस समय तत्वदर्शी पुरुषों का कर्तव्य है कि उसे सन्मार्ग से विचलित न होने दें और युक्ति से काम लेकर, जिस प्रकार भी हो—तनमन धन से उसे धर्म के मार्ग पर स्थित रख कर उसकी व उसके धर्म की रक्षा करें। यही स्थितिकरण अंग है।

वात्सल्य

यों तो सम्यग्दृष्टियों के हृदय मे विश्व बंधुत्व की पवित्र भावना के जागृत रहने से मानव ही नहीं, प्राणिमात्र के प्रति प्रेम और सहानुभूति हुआ करती है; किन्तु धर्मात्मा पुरुषों के प्रति स्नेहपूर्ण सविशेष वात्सल्य भाव रहा करता है। जैसे गौ अपने वत्स पर स्वाभाविक स्नेह का भाव संजोये रहती है और समय आने पर अपने प्राणों की भी बाजी लगाकर अपने वत्स की रक्षा करती है उसी प्रकार धर्मात्माओं या धर्मायतनों पर किसी प्रकार की आपत्ति-विपत्ति के आने पर सम्यग्दृष्टि अपने प्राणों को न्योछावर कर भी उनकी रक्षा करना अपना परम कर्तव्य समझता है। यही वात्सल्य अंग कहलाता है। मन में किसी के प्रति कपट रखते हुवे मुँह पर मीठी-मीठी बातें करना और परोक्ष मे निन्दा करना अथवा कार्यों में बाधा डालना एक सम्यग्दृष्टि के योग्य कार्य कदापि नहीं है। वात्सल्य में बनावटी प्रेम के लिये कोई स्थान नही। यदि कोई अपने सहधर्मियों के प्रति यथा योग्य आदर-सत्कार, विनय, प्रेम, सेवा-सुश्रूषादि न कर उनका तिरस्कार-अपमान या निष्ठुर व्यवहार करता है तो समझना चाहिये कि उस व्यक्ति में न तो धर्म है और न वात्सल्य। उसे अपने सह-

धर्मी व अन्य जनों के साथ निष्कपट प्रेमपूर्ण व्यवहार करना ही चाहिये। यही वात्सल्य सम्यग्दर्शन का अंग है।

प्रभावना

सुख के साधनभूत धर्म-मार्ग पर स्वय दृढ़ आस्था रखते हुए सुख की खोज में विकल अज्ञानान्धकार में भटकते एवं मोह माया के कुचक्र मे फँसे हुवे दुखी ससारी जनों को अपने वास्तविक स्वरूप का भान कराकर मार्गदर्शन देना भी सम्यग्दृष्टि का परम कर्तव्य है।

सुख आत्मा का अपना ही स्वभाव है—जिसे प्राप्त करने के लिये प्राणिमात्र प्रयत्नशील है। किन्तु वह अपने स्वरूप और उसकी प्राप्ति के उपाय को न जानने के कारण ससार में भटकता फिर रहा है। अतः जिन्होंने सुख का वास्तविक मार्ग पा लिया है उनका कर्तव्य हो जाता है कि वे भ्रमित और त्रसित अन्य जनो को भी मार्गदर्शन देकर सब के लिये सुख का मार्ग प्रशस्त करे। यह कार्य स्वयं सन्मार्ग पर दृढ़ता के साथ अग्रसर होते हुवे उपदेशों द्वारा तथा सत्साहित्य के प्रचार और प्रसार द्वारा सरलता से सम्पन्न किया जा सकता है, जिसे करने के लिये प्रत्येक सम्यग्दृष्टि सदैव तत्पर रहता है। यही प्रभावना अंग कहलाता है।

सम्यग्दृष्टि के जीवन में उल्लिखित अष्टांगों की झलक किसी न किसी रूप में अवश्य दिखाई देती है। यदि नहीं देती है तो उसका सम्यग्दर्शन अभी विकलांग है—जो न तो स्वयं को और न दूसरों को ही सुखी बनाने में समर्थ हो सकता है।

तत्व के स्वरूप को भलीभांति समझने और उस पर श्रद्धा करने वाला अष्टांग सम्यग्दर्शन का धनी व्यक्ति चाहे वह चांडाल भी क्यो न हो, देव के समान पूज्य और अभिनंदनीय है, किन्तु जिसे आत्मा आदि तत्वों का यथार्थ ज्ञान और श्रद्धान न होकर जीवन में निःशंकिता नहीं आई और जिसे सुखी बनने के लिये इन्द्रिय विषय भोगों की ही चाह बनी हुई है, दीन-दुखियों और धर्मात्मा पुरुषों को रुग्ण या हीनावस्था में देखकर जो उनकी सेवा करने के स्थान पर ग्लानि या घृणा करता है तथा देव गुरु धर्म की यथार्थ मे गुणों द्वारा पहिचान न कर रागी द्वेषी व पाखडी जनों को देव, गुरु या धर्म मान सेवा कर मूढ़ता मे फंसा रहता है, एवं अपने तुच्छ स्वार्थों की सिद्ध के लिये उन की पूजा सेवा करने मे लगा रहता है. पर निंदा और आत्म प्रशसा कर प्रफुल्लित होता तथा सन्मार्ग से च्युत होने वाले अन्य जनों को सहारा देने के स्थान पर उन्हे मार्ग भ्रष्ट होते देखता रहता है, परस्पर मे सहधर्मियो से वात्सल्य न कर द्वेष और कपट करता है तथा स्वयं अंधविश्वासों में फंसा रहकर धर्म मार्ग की प्रभावना न कर साधकों की हंसी उड़ाता और दूसरों में मिथ्या वासनाओं को उत्पन्न कर मार्गभ्रष्ट करता है वह लोक में कितना ही धनी, मानी या प्रतिष्ठित क्यो न हो आदर का पत्र नहीं हो सकता और न धर्मात्मा या सम्यग्दृष्टि ही कहला सकता ।

निरभिमानता

इस असार संसार, नश्वर शरीर, चंचला लक्ष्मी, व सुख भ्रमोत्पादक विषय भोगों के निकृष्ट स्वरूप एवं अंतरात्मा

के पावन रूप को निहारते हुए सम्यग्दृष्टि अपने सीमित ज्ञान, बुद्धि, वक्तृत्व कला, चातुर्य तथा शारीरिक बल और सौन्दर्य का अथवा अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा व ऐश्वर्य का या अपनी जाति और कुल का न तो गर्व करता और न गर्वित होकर अपने से भिन्न अन्य व्यक्तियों तथा सहधर्मी बंधुओं का अपमान या तिरस्कार। वह भलीभांति समझता है कि कर्मोदय से संप्राप्त यह सब कुछ मेरा नहीं है, चारदिन की चांदनी है। कौन जाने कब विलय को प्राप्त हो जाय एवं जीवन में दरिद्रता, निर्बलता, अप्रतिष्ठा और क्षुद्रता का शिकार होना पडे। फिर अपनी जिन यिशिष्टताओं पर व्यक्ति इतराता और अह भाव से पीड़ित होकर फूला नही समाता, वे विशेषताएँ केवल मुझ में ही हों, सो बात भी नहीं। दुनिया मे दृष्टि दौड़ाने पर जाना जाता है कि मुझसे भी अधिक धनी, विद्वान्, रूपवान्, प्रतिष्ठित, बलवान् और बुद्धिमान् या तपस्वी व्यक्ति हो चुके हैं, हैं व हो सकते हैं, अतः इस थोथे अभिमानवश अपने आप को ही सर्वश्रेष्ठ मानने और दूसरों का तिरस्कार करने से क्या कोई बडा बन सकता है? प्रत्युत् दूसरों की दृष्टि में गिरता ही है। बड़प्पन तो अपने गुणों का विकास करते हुवे दूसरों की सेवा एवं विनम्रतापूर्वक व्यवहार व यथायोग्य आदर सत्कार करने से प्रकट होता है। अतः सम्यग्दृष्टि दुरभिमान से भी दूर ही रहता है।

साथ ही वह इन्हीं धनादि वस्तुओं के अभाव में अपने को दीन और तुच्छ समझ हीनता की भावनाओं का शिकार भी नहीं होता और न किसी प्रकार आत्म गौरव को भुलाकर

कर्त्तव्य पालन से विमुख होता हुआ जीवन में कायरता को ही स्थान देता। वह सदा जागरूक रहकर आत्म गुणों के विकास एवं हित साधन को ही अपने जीवन का लक्ष्य बनाता है जब कि समता, स्वतन्त्रता, विनम्रता एवं समदर्शिता (वीतरागता) की साधना ही उसका ध्येय बन जाता है।

सम्यक्चारित्र

अपने पावन स्वरूप एवं लक्ष्य का यथार्थ ज्ञान और श्रद्धान हो जाने पर उसकी प्राप्ति के लिये पुरुषार्थ करना भी अनिवार्य है। सही दिशा में पुरुषार्थ करने पर ही कार्य सिद्धि सम्भव है। आत्म शुद्धि का लक्ष्य निर्धारित कर विवेकी जनों का अपने आन्तरिक विकारों पर विजय प्राप्त करने का प्रयत्न करना और विषय कषायों व पाप वासनाओं से विरत होकर वीतरागता को आत्मसात करने के लिये आत्म लीन होना ही परम पुरुषार्थ कहलाता है। इसे ही निश्चय सम्यक्चारित्र कहते हैं। वस्तुतः निश्चय चारित्र जो आत्म-लीनता है, वह सम्यग्-दृष्टियों के लिये ही संभव है; किन्तु इसका अभ्यास किये बिना प्रारम्भिक दशा में वह सबके लिये सहज संभाव्य नहीं है। अतः आत्मलीनता के अभाव मे इस ओर अग्रसर होने के लिये अशुभ क्रियाओं से निवृत्त होकर शुभ में प्रवृत्ति करना—हिंसादि पापों का परित्याग कर, अहिंसा, सत्यादि व्रतों का आचरण करना तथा क्रोध को क्षमा और सहिष्णुता से, मान को विनम्रता से, माया को सरलता से, लोभ को संतोष से, काम और विविध विषयेच्छाओं को विवेक से, जीतने के अनवरत प्रयत्न आत्मशुद्धि

के अमोघ साधन हैं, अतः इन्हें व्यवहार सम्यक्चारित्र कहा जाता है। इस सम्यक्चारित्र का ही अपरनाम अहिंसा है।

हिंसा और अहिंसा का वास्तविक रूप

आत्मा के जिन राग, द्वेष, मोहादि विकार भावों या प्रवृत्तियों से अपना पतन होकर आत्म शांति और सुख को ठेस पहुंचती है अथवा दूसरों के सुख-शांति को भग किया जाता है वेही भाव और कार्य हिसा तथा रागादि विहीन आत्मा की वीतराग पवित्र परणति ही अहिसा कहलाती है। जब हम मोहवश रागद्वेषादि भावों में निमग्न हो जाते हैं तब आत्मा अपनी शाति और आनन्द से वंचित होकर आकुल-व्याकुल होने लगता है। हिसा का उदय इनही विकार-भावों से प्रारभ होता है—जो हिसा का आंतरिक रूप है। तथा रागद्वेषवश दूसरों की सुख-शांति का नष्ट करना वह हिसा का बाह्य रूप है। इसके विपरीत रागद्वेषदि विकारों पर विजय प्राप्त कर आत्मशाति और आनन्द मे लीन रहना और दूसरो की शाति एवं आनन्द को कायम रखने का भाव रखना व प्रयत्न करना ही अहिसा है। हिसा व अहिसा का यह संक्षिप्त स्वरूप है। अतः अपने भावों को पवित्र रखना तथा दूसरों की रक्षा का ध्यान रखते हुए यत्नाचार पूर्वक कोई भी कार्य करना प्रत्येक अहिसक व्यक्ति का कर्त्तव्य है।

सद्भावनापूर्वक किये गये कार्यो मे यदि किसी जीव के प्राण भी चले जायें तो भी उसमें हिंसा लेश मात्र भी नही होती। जैसे कोई अहिसा व्रती, वीतरागी साधु पुरुष इस विचार से कि मेरे द्वारा किसी प्राणी का घात न हो जाय,

देखभाल कर चला जा रहा है, किन्तु अचानक एक पतिंगा पैर रखते हुवे उछल कर आ गया और दब कर मर गया। तो ऐसी दशा में उस पुरुष को रंच मात्र भी पाप नहीं लगेगा। तथा धार्मिक व्याख्यान के समय जनता के हित में शराब पीने और मांस खाने की बुराइयां बतलाने पर यदि शराबी और मांसाहारी को बुरा लगे और उनका दिल दुखे तो व्याख्याता को भी पाप कदापि नही लग सकता। क्योंकि यत्नाचार पूर्वक की गई क्रियाओं में व दूसरों की भलाई के लिये दिये गये उपदेशो में दुर्भावना या कषाय का अभाव है।

किन्तु जो मनुष्य दूसरों के हिताहित की परवाह और रक्षा पर ध्यान दिये बिना मदमत्त होकर यद्वातद्वा अयत्नाचार-पूर्वक प्रवृत्ति करता है अथवा प्रकट रूप मे किसी को सताता और मारता नहीं है, किन्तु उसके भाव किसी को मारने या सताने के है अथवा काम, क्रोध, मान, माया लोभ अर्थात् राग द्वेषादिक दुर्भावनाओं मे रंगे हुवे है तो समझना चाहिये कि वह व्यक्ति प्रकट रूप हिंसा न करते हुए भी हिंसक है।

उपरोक्त कथन से स्पष्ट है कि इतर जीवों के मरने-जीने मात्र पर हिंसा अवलम्बित नहीं, बल्कि अपने दुर्भावों और दुर्भावनापूर्ण कार्यों पर निर्भर है एवं उनके अभाव मे अहिंसा है।

हिंसा का भेद

हिंसा दो प्रकार की है। १. भाव हिंसा २. द्रव्य हिंसा। भाव हिंसा के २ भेद हैं। १. स्वभाव हिंसा, २. परभाव हिंसा। इसी प्रकार द्रव्य हिंसा भी स्वद्रव्य और परद्रव्य हिंसा के

भेद से दो प्रकार की है। हिंसा का अर्थ घात करना है, जब आत्मा क्रोधादि दुर्भावों में निमग्न होता है तब वह यदि दूसरे जीवों का घात न भी करे; तो भी अपनी शान्ति, आनन्द एवं ज्ञानादि गुणों का घात तो कर ही डालता है। अतः वह आत्म-स्वभाव का घात ही स्वभाव हिंसा या आत्म हिंसा है। इसके अतिरिक्त जो क्रोधादि कषायों के वश होकर दूसरों की भावनाओं को चोट पहुचाई जाती है (मर्मभेदी वचनों या कार्यों द्वारा) वह परभाव हिंसा है। दुर्भावों के वश होकर अपने शरीरादि बाह्य प्राणों का घात करना स्वद्रव्य हिंसा है। और दूसरों के शरीरादि का विनाश करना पर द्रव्य हिंसा है। किन्तु स्वद्रव्य हिंसा, पर द्रव्य हिंसा और परभाव हिंसा का मूल स्वभाव हिंसा है। अर्थात् अपने आत्मा में दुर्भाव पैदा हो जाने पर जब दूसरों के भाव प्राणों या द्रव्य प्राणों पर आघात किया जावेगा अथवा अपने शरीरादि द्रव्य प्राणों का नाश किया जावेगा तब ही वे कार्य हिंसा कहला सकते हैं। यदि हमारे भाव राग द्वेष क्रोधादि विकारों से रहित विश्वबंधुत्व की भावना से ओतप्रोत हैं और हम हिंसा से पूर्णतया विरत होकर अहिंसा का व्रत लेकर दूसरों की रक्षा व हित का ध्यान रखते हुए सावधानी से कार्य कर रहे हैं तब हमारे निमित्त से किसी के प्राणों के पीड़ित हो जाने या नष्ट हो जाने पर भी हमें हिंसा का दोष कदापि नहीं लग सकता।

जीवन में अहिंसा अव्यावहारिक नहीं

उपरोक्त कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि अहिंसा धर्म का पालन पराश्रित (पराधीन) न होकर अपने भावों के

ही आधीन है। जिसका पालन दुर्भावनाओं पर विजय प्राप्त करने वाला प्रत्येक व्यक्ति सदा ही आसानी से कर सकता है। जो सज्जन जीवन में अहिंसा का पालन अव्यावहारिक व असम्भव समझते हैं सचमुच वे अहिंसा के उल्लिखित स्वरूप को या तो समझे ही नहीं हैं या उसके पालन करने की इच्छा न रखने के कारण उस पर अव्यावहारिकता का दोषारोपण कर अपनी कमजोरी को छिपाने के लिये बहाना बना रहे हैं।

यह बात अलग है कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी भ्रम पूर्ण धारणाओं और विषय वासनाओं में लिप्त रहने के कारण रागद्वेषादि पर विजय प्राप्त नही कर पाता और इसीलिये हिंसात्मक प्रवृत्तियों में निरन्तर लगा रहता है; किन्तु यदि कोई व्यक्ति भ्रमवश विष को अमृत मान कर पीता रहे या अमृत पान करने को ही अहितकर समझता रहे तो इतने मात्र से विष की हेयता व अमृत पान की उपादेयता कम नहीं हो जाती। उसी प्रकार अमृत के समान अहिंसा धर्म से अपरिचित व्यक्तियों का उसे ठुकराना या अव्यावहारिक बताना कहाँ तक ठीक है, यह उल्लिखित कथन से सहज ही समझा जा सकता है। ऊपर यह कहा गया है कि अहिंसा का पालन अपने ही आधीन है। तथा परवस्तु के सम्बन्ध से आत्मा को रंच मात्र भी हिंसा नहीं होती, तो भी भावों (विचारों) में पवित्रता बनाये रखने के लिये हिंसा के वातावरण, सामग्री और आयतनों का भी परित्याग करना आवश्यक है। जैसे किसी मनुष्य के पास अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये काफी धन है; किन्तु वह उससे तृप्त न होकर तृष्णावश अधिक संग्रह की इच्छा

से आकुल व्याकुल बना रहता है और धन-दौलत को ही सर्वस्व समझकर अपने आपको भी भूलकर राग द्वेषादि भावों में लिप्त होता जाता है तो उसकी आवश्यकता से अधिक धनादिक वस्तुएँ रागद्वेषादि में बृद्धि में कारण होने से हिंसा की सामग्रियाँ ही कहलायेंगी। अतः इनका सर्वथा त्याग या परिमाण अवश्य करना चाहिए। वीतरागी साधु इसी कारण परिपूर्ण बाह्य परिग्रह का परित्याग कर परम नैर्ग्रन्थ्य की शरण लेते हैं।

न होगा बाँस न बजेगी बाँसुरी

रागद्वेषादि भावों के उत्पन्न हो जाने पर कोई यदि पर-हिंसा न भी करे या कर सके तो भी वह हिंसा के फल को अवश्य भोगेगा और दूसरा बाह्य दृष्टि से हिंसा करके भी (अर्थात् उसके शुद्ध भावो से यत्नाचारपूर्वक कार्य करते हुये किसी जीव के मर जाने पर भी) हिंसा के फल को कदापि नहीं भोगेगा। जैसे सद्भावपूर्वक की गयी शल्य क्रिया (आपरेशन) द्वारा यदि रोगी स्वस्थ न हो या मर भी जाय तो भी डॉक्टर को हिंसा का दोष नही लग सकता।

किसी व्यक्ति को थोडी सी बाह्य हिंसा भी बहुत दुःख दे सकती है यदि उसके भावों में दुष्टता का भाव अधिक मात्रा में है, और किसी की (बाहर से दिखाई देने वाली) महा हिंसा भी भावों में दुष्टता की कमी होने से अल्प फल को ही प्रदान करती है। एक साथ की जाने वाली एक ही हिंसा किसी को कम और किसी को ज्यादा भावानुसार (मंद तीव्र कषायानुसार) दुखदायी भी हो सकती है, क्योंकि अपने भावों के अनुसार ही

कर्मफल मिलता है। कभी-कभी दूसरों की हिंसा न कर सकने पर भी हिंसा का दुष्परिणाम पहिले ही भोगना पड़ता है (जबकि उसने हिंसा का संकल्प बहुत समय पूर्व किया हो तथा मारने में सफल बाद में हुवा हो) कभी हिंसा कर चुकने पर उसका फल मिलता है और कभी हिंसा करने का आरम्भ कर देने मात्र से ही उसका फल मिल जाता है।

कभी एक व्यक्ति हिंसा करता है और उसका फल (हिंसा की प्रशंसा करते और देखकर हर्षित होने के कारण) अनेक भोगते हैं। इसी प्रकार अनेक हिंसा करते हैं और उसका प्रधानतः फल प्रायः एक को ही मिलता है। जैसे किसी अत्याचारी राजा के द्वारा किसी अन्य राजा व उसकी प्रजा पर आक्रमण करने की आज्ञा से आक्रमण व लूट पाट करने वाले सिपाहियों को अधिक फल न मिलकर प्रायः राजा को उसका दुष्परिणाम भुगतना पड़ता है। किसी को बाह्य दृष्टि से दिखने वाली अहिंसा भी हिंसा का फल प्रदान करती है जैसे कोई किसी को हानि पहुँचाने की भावना से कार्य करे और उसके पुण्य के प्रभाव से हानि के स्थान पर लाभ हो जावे तो उस दुर्भावना रखकर कार्य करने वाले व्यक्ति को हिंसा का ही फल मिलेगा। सारांश यह कि हिंसा और अहिंसा अपनी अपनी अशुद्ध व शुद्ध भावनाओं एवं कार्यों पर अवलम्बित है। कब, कहाँ, कैसे और कौन हिंसा में लिप्त हो जाता है तथा कौन उनसे बचकर अहिंसक बना रहता है—उल्लिखित विवेचन से इन बातों का थोड़ा सा आभास मिल जाता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि हिंसा से विरक्ति पूर्वक अपनी मनो-

भावनाओं को पवित्र रखकर यत्नाचारपूर्वक कार्य करने से अपने दैनिक जीवन मे अहिंसा का व्यवहार सहज ही किया जा सकता है।

अन्य प्राणियों में भी मेरे ही समान जान है और वे मेरी तरह ही सुख-दुख अनुभव करने की शक्ति रखते हैं, इस विचार के साथ चलते-फिरते, उठते-बैठते, खाते-पीते, कमाते और खर्च करते हुए प्रत्येक कार्य को हमें दूसरों के हितों की रक्षा का ध्यान रखते हुए सावधानी के साथ ही बर्तना चाहिये। यह भी ध्यान रखना चाहिये कि हमारी ही तरह अन्य प्राणियों को भी जीने और सुख भोगने का पूर्ण अधिकार है। अतः हमारे मन मे किसी को स्वप्न में भी कष्ट देने की भावना उत्पन्न न होनी चाहिये और न हमारी लापरवाही से किसी को ठेस पहुँचना चाहिए। पवित्र भावना के साथ कार्यों में सावधानी रखना कोई अव्यावहारिक कार्य नहीं है, जब कि हम ऐसा करना अपना कर्त्तव्य समझें।

यहाँ अहिंसा का पालन और हिंसा का त्याग शक्त्यनुसार किस क्रम से करना चाहिये, इस विषय पर प्रकाश डालना अनुचित न होगा। व्यवहार में हिंसा चार प्रकार से हुआ करती है (१) संकल्पी (२) आरंभी (३) उद्योगी, (४) विरोधी।

(१) संकल्पी हिंसा वह है जो इरादे से की जाती है। जैसे किसी को क्रोधादिकषाय वश जानबूझकर सताना, देवी-देवताओं को प्रसन्न करने अथवा अपना अभीष्ट सिद्ध करने के लिये जीवों को मारकर बलि चढ़ाना, मांस खाने की लोलुपता से प्राणियों का बध करना, द्वेषवश किसी पर आक्रमण करना,

मनोरंजन के लिये शिकार खेलना आदि। इस कार्यों को स्वयं न करके दूसरों से करवाना या किसी को करते हुवे देखकर खुश होना भी संकल्पी हिंसा है।

(२) आरंभी हिंसा वह है जो घर-गृहस्थी के कार्यों के करने में प्राणियों का घात हुआ करता है—जैसे चक्की पीसना, झाड़ु देना, मकान बनवाना, आग जलाना आदि कार्य। इनमें सावधानी रखते हुवे भी थोड़े-बहुत जीव मर ही जाते हैं।

(३) उद्योगी हिंसा वह है जो खेती, व्यापार करने, कल-कारखाने चलाने आदि जीविका संबंधी कार्यों में होती है। इन कार्यों को यत्नाचारपूर्वक करते हुए भी हीनाधिक रूप में जीवों का घात हो ही जाता है।

(४) विरोधी हिंसा वह है जो दुष्टों और आततायियों से अपनी जान-माल, कुटुम्ब, समाज, देश, धर्म और आश्रितों की रक्षा करने के उद्देश्य से उनका सामना या संघर्ष करने में होती है। इसमें रक्षा करने का ही प्रधान उद्देश्य रहा करता है—दूसरों को मारने का नहीं।

गृहस्थ और साधु की अहिंसा में अंतर

जैन धर्मानुसार उल्लिखित चारों प्रकार की हिंसा का पूर्ण रूप से त्याग गृहत्यागी साधु पुरुषों के द्वारा ही संभव है जो अनिवार्य है। बिना ऐसा किये कोई भी व्यक्ति साधु नहीं बन सकता। गृहत्यागी साधु पुरुष ही पूर्ण रूप से हिंसा का त्याग कर सकते हैं, जो कि संसार, शरीर व विषय-भोगों से सर्वथा विरक्त रहते हुवे धर्म एवं मोक्ष पुरुषार्थ

की साधना करने में ही सतत संलग्न रहते हैं, मानव जीवन की सफलता भी परिपूर्ण पापों का त्याग कर महाव्रतों का पालन करते हुए सम्पूर्ण अहिंसा (वीतरागता) को आत्मसात् कर लेने पर निर्भर करती है। अतः प्रत्येक मानव का आदर्श भी पूर्ण अहिंसा द्वारा शुद्ध जीवन का निर्माण करना होना चाहिये।

पूर्ण अहिंसा (वीतरागता) में अनन्त शक्तियां निहित हैं। जब साधु पुरुष मन वचन कर्म से अहिंसक (वीतराग) बनकर आत्मशुद्धि करने मे लीन रहते हैं उस समय उनमें जो आत्मतेज प्रकट होता है उसके प्रभाव से बड़े-बड़े अभिमानियों का मस्तक उनके चरणों मे अनायास ही झुक जाता है: जंगली मृग और हिंसक पशु भी अपने जन्मजात बैर-विरोध को भूल कर शांति के साथ उनके चरणों मे जा बैठते है तथा उनकी दिव्यमूर्ति की ओर टकटकी लगाकर देखते रहते हैं। उनसे अपने पूर्व बैर का बदला लेने नंगी तलवार लेकर मारने के लिये जाने वाले शत्रु भी उनकी शांत और वीतराग मुद्रा को देखकर काठ की पुतली के समान हाथ मे तलवार लिये खड़े रह जाते हैं और अन्त मे उन्हें उनकी सर्वतोमुखी अहिंसा के समक्ष नत मस्तक होकर शतमुख से उनकी स्तुति करनी पड़ती है। क्यों? इसलिये कि व्यक्ति के भावों की निर्मलता एवं मन, वचन, कर्म की पवित्रता का प्रभाव ही अद्भुत होता है, जो कि अपने विरोधी व दुष्टात्माओं को भी अपना बना लेता है। अतः जिन वीतराग महापुरुषों की अंतरात्मा में पावन अहिंसा का अथाह समुद्र लहरा रहा है उसका प्रभाव यदि हिंसा की भावनाओं को कुंठित और हतप्रभ बनाकर हिंसक को अहिंसक

और नम्र बना दे तो इसमें आश्चर्य ही क्या ? किन्तु संसार के सब मनुष्य घर-बार छोडकर वीतराग साधु बन जायें और अहिंसा का पूर्ण रूप से पालन करने लगें, यह संभव नहीं है; क्योंकि वैसा करना बड़ी वीरता, धीरता, गंभीरता और साहस का काम है जो महामानवों द्वारा ही संभव है। अतः जो परिपूर्णतया गृह आदि की ममता छोड़ने में असमर्थ हैं एवं गृह मे रहकर ही आंशिक रूप में शांतिपूर्वक धार्मिक जीवन व्यतीत करना चाहते है, उन्हें आचार्यो ने अहिंसा का अंश रूप मे पालन करने के विधान का निर्माण कर मार्गदर्शन देते हुए प्रतिपादन किया है कि गृहस्थ को चार प्रकार की हिंसा में से कम मे कम प्रथम संकल्पी हिंसा अर्थात् इरादे से त्रस जीवों को सताने या मारने का त्याग अवश्य करना चाहिये और चूंकि पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा वनस्पति इन पांच स्थावर जीवों की गृहस्थ द्वारा सकल्पी हिंसा का त्याग होना कठिन है इस-लिये आवश्यकता के बिना इनकी भी हिंसा न करना चाहिये और उनके सरक्षण पर यथासंभव पूर्ण ध्यान देना चाहिये।

ऊपर यह बताया जा चुका है कि जीविका एवं गृहकार्यों के करने मे भी त्रस हिंसा होती है; किन्तु उन कार्यों के करने मे गृहस्थ का सीधा उद्देश्य हिंसा करना नहीं, बल्कि अपने व्यापारादि कार्यों को संपन्न करना है। अतः वह हिंसा संकल्पी नही है और न उसका त्याग ही गृहस्थ द्वारा घर में रहकर किया जा सकता है। चूंकि चार पुरुषार्थों में मोक्ष पुरुषार्थ का लक्ष्य रखते हुए धर्म, अर्थ और काम-इन तीन पुरुषार्थों का सेवन करना गृहस्थ के लिये आवश्यक है (इनका यथा

योग्य सेवन किये बिना उसका जीवन सुव्यवस्थित नहीं रह सकता,) इसलिये भी वह त्रस जीवों की सकल्पी हिंसा के सिवाय शेष हिंसाओं का पूर्ण त्यागी नहीं बन सकता। फिर भी उसे यत्नाचारपूर्वक प्रवृत्ति करते हुवे यथासंभव पर हित संरक्षण का ध्यान अवश्य रखना चाहिये। एवं धर्म, अर्थ और काम इन तीनों का सेवन इस रीति से करना चाहिये जिससे उनमें परस्पर बाधा उत्पन्न न हो।

कोई मनुष्य घर में रहता है और गृहस्थी का भार भी लादे हुवे है; किन्तु प्रतिदिन आपने सारे समय को दूसरों की ही सेवा, स्वाध्याय, देवपूजा आदि कार्यों में व्यतीत कर धनार्जन (अर्थ पुरुषार्थ) की ओर ध्यान नही देता, तो यह निश्चित है कि वह तथा उसके आश्रित अन्य कुटुम्बीजन एक न एक दिन दरिद्र बनकर संकट मे फँस जावेंगे और फिर निराकुल होकर वह धर्म कार्य भी न कर सकेगा (यदि घर में पर्याप्त धन हो तो अवश्य ही संतोष के साथ अपना सारा समय धर्म साधन व आत्मोन्नति के कार्यो मे लगा देना चाहिये, न कि तृष्णा के कुचक्र में फसे रहकर असतोष और अशांतिपूर्वक अपने जीवन को हाय-हाय पूर्ण बनाकर बर्बाद करना चाहिये)। इसके साथ ही जो मनुष्य केवल धन कमाने में ही रात-दिन एक कर देता है और उस धन का न तो उचित रूप से स्वयं उपभोग करता, न दूसरों की सेवा, सहायत्ता व परोपकार में लगाता, वह भोजन की परोसी हुई थाली को ठुकरा कर लंघन करने वाले मनुष्य के समान ही मूर्खतावश केवल क्लेश का पात्र होता है। आखिर वह धन कमाता किसलिये है?

ऐसे ही जो मनुष्य केवल धन कमाने और खाने-पीने, मौज उड़ाने में ही मस्त होकर आत्मोन्नति के लिये धर्म साधन नहीं करता, और न मोक्ष पुरुषार्थ की ओर ही लक्ष्य रखना चाहता या भ्रमवश उन्हें भूल जाता है, तो वह कर्तव्यहीन बनकर अपने बहुमूल्य जीवन को बर्बाद करता हुआ कौए को उड़ाने के लिये कीमती रत्न को फेंक देने जैसी मूर्खता करता है; क्योंकि मानव जीवन का उद्देश्य पशुओं की भाँति जैसे तैसे पेट भर लेना और भोग विलास कर लेना ही नहीं है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि गृहस्थाश्रम में रहते हुवे धर्म, अर्थ और काम इन तीन पुरुषार्थों का यथोचित सेवन करते रहने तथा मोक्ष पुरुषार्थ की ओर अपना लक्ष्य बनाये रखने में ही गृहस्थ का हित है। साथ ही यह भी निश्चित है कि अर्थ पुरुषार्थ (धनार्जन करना) व काम पुरुषार्थ (इंद्रियों के न्यायोचित भोग भोगना) इन दोनों में आरंभी व उद्यमी हिंसा गृहस्थ से छूट नही सकती; किन्तु फिर भी आजीविका के जिन कार्यों में और भोगोपभोगों की जिन सामग्रियों के भोग में हिंसा अधिक होती हो उनका त्याग भी उसे यथा-संभव करने का प्रयत्न अवश्य करना चाहिये और धन कमाले व भोगों का भोग करते समय सदा न्याय तथा दूसरों के उचित अधिकारों व हितों को भूल न जाना चाहिये, अन्यथा वे अर्थ-पुरुषार्थ और काम पुरुषार्थ न कहलाकर संकल्पी हिंसा का स्थान ले लेंगे जो कि अपने और दूसरों के सुख-शांति को नष्ट करने का साक्षात कारण है।

गृहस्थ और विरोधी हिंसा

गृही जीवन में मनुष्य को कभी-कभी ऐसी परिस्थिति का सामना भी करना पड़ता है जबकि उसके धनादि के अतिरिक्त उसका देश, धर्म, धर्मायतन, कुटुम्ब, जाति व अपना भी अस्तित्व खतरे मे पड़ जाता है। क्योंकि संसार में सब लोगों के लिये धर्म का ठीक-ठीक उपदेश मिलना आसान नही है और यदि मिल भी जाय तो हर एक का धर्मानुकूल चलने लगना कठिन है।

चाहे जितना भी सुन्दर, जोशीला, प्रभावक, तर्कपूर्ण और कल्याणकारक उपदेश दीजिये, सैकड़ो मनचलों, कामांधों, दुष्टो, अभिमानियो और दुनियाँ के मौज-शौक को ही सब कुछ समझने वालों के कानो पर जूँ तक नही रेंगती। वे दूसरों को सताने, बर्बाद करने, बहिन बेटियों की बेइज्जती करने, धर्म और धर्मस्थानो पर हमला कर उन्हे नष्ट-भ्रष्ट करने, धन-माल हड़पने, अपने से भिन्न देशो की स्वतंत्रता का अपहरण कर अन्याय व अत्याचार करने पर तुले रहते हैं। ऐसे समय-जबकि कोई आततायी किसी सद्गृहस्थ के जानमाल आदि के अपहरण करने का दुष्प्रयत्न करता है या उसके धर्म व धर्मस्थानो को नष्ट-भ्रष्ट करके अपनी धर्मान्धता की पराकाष्ठा दिखाना चाहता है या उसके देश और देशवासियों पर आक्रमण कर गुलामी की जंजीरों मे जकडना चाहता है, उस समय जैनधर्मानुसार गृहस्थ को तुरन्त युक्ति, बल, खजाना और शस्त्रादि साधनों से अपने धर्म, देश, समाज, कुटुम्ब व अपनी और अपने आश्रितों की रक्षा करनी पड़ेगी। सम्भव है कि इस समय के संघर्ष में आततायी की चोट लग

जाय या उसकी जान भी चली जाय; किन्तु रक्षा की भावना से लड़ने वाले गृहस्थ को संकल्पी हिंसा का दोष नहीं लगता; प्रत्युत् रक्षा करने की भावना रखने के कारण वह कर्तव्य-परायणताजन्य पुण्य का ही अधिक मात्रा में सम्पादन कर यश का भागी बनता है। इसके अतिरिक्त वह आततायी को शिक्षा देने और उसका भविष्य सुधारने तथा अन्य लोगों को पाप से भयभीत करने एवं सामाजिक व्यवस्था ठीक-ठीक कायम रखने के लिये उसे न्यायानुकूल यथायोग्य राज दण्ड भी दिलाता है, ताकि फिर किसी को वैसा कार्य करने का साहस न हो।

वे पुरुष वीर कहलाते है जो किसी आततायी के द्वारा सताये जाने पर आत्मरक्षा करने में पूर्ण समर्थ होते और उसे वश कर उस पर विजय प्राप्त करते हैं; किन्तु जो प्रतिकार करने में पूर्ण समर्थ होते हुवे भी दुश्मन की दुष्टता और मूर्खता का बदला लेने की अपेक्षा उसे हृदय से क्षमा कर देते हैं वे वास्तव में महावीर है। अपराधी को हृदय से क्षमा कर देना और उसके अपराध का तनिक भी ख्याल न लाना कितना कठिन और वीरता का कार्य है, इसे साधारण व्यक्ति नहीं समझ सकते। नासमझी से ऐसे महावीर को कायर कहना एक प्रकार का भ्रम एव दयनीय अज्ञान ही कहा जाएगा। यद्यपि प्रत्येक विचारशील व्यक्ति को क्षमा धारण कर महावीरता दिखाना चाहिये; किन्तु यदि गृहस्थ अपनी परिस्थितिवश ऐसा न कर सके तब कायरता छोड़कर आत्मरक्षा करते हुवे शत्रु का सामना व उसको वश कर वीरता तो दिखानी ही चाहिये; क्योंकि अहिंसा कायरों का नहीं, वीरों का धर्म है।

कायर वे हैं जो बलवान् शत्रु का प्रतिकार करने में स्वयं असमर्थ होने, या समर्थ्य होने पर भी साहस के अभाव में भयभीत हो मुंह छिपा कर बैठ जाते हैं और मन ही मन तो उसे कोसते व द्वेष करते रहते है, किन्तु ऊपर से दिखावटी क्षमा का राग अलापते रहते हैं। वह क्षमा नहीं कायरता है और इसमें व हिंसा में नाम मात्र का ही अन्तर है। यह काय-रता उस विरोधी हिंसा से कहीं अधिक दुर्भावपूर्ण व निंद्य है जिसका कि ऊपर वर्णन किया जा चुका है और जो गृहस्थ के लिये क्षम्य है।

किन्तु, गृहस्थाश्रम को त्याग कर पवित्र एवं सच्चे हृदय से साधु धर्म पालन करने वाले पुरुषों को सब तरह की हिंसा का त्याग करना ही चाहिये। यदि किसी साधु पर कोई दुष्ट आक्रमण करे, बाँधे, मारे या प्राण तक लेने का षड्यन्त्र रचे तो भी उसे उसके प्रति रंचमात्र वैर द्वेष या कोध आदि का भाव न करते हुवे (प्रतीकार करने में समर्थ होते हुवे भी) उसे हृदय से क्षमा करना ही उचित है। यही पूर्ण व सच्ची अहिंसा है जिसकी महिमा अचिंत्य है। उपरोक्त कथन से स्पष्ट है कि गृहस्थ और साधु दोनों ही अहिंसा का अपने-अपने पद के अनुसार एकदेश व पूर्णरूप से पालन करते हुए धर्मानुकूल शांति-पूर्वक जीवन बिता सकते हैं। जो लोग बिना समझे अहिंसा को कायरता या अव्यावहारिक कहा करते हैं, आशा है उनका भ्रम उक्त कथन से दूर हो जावेगा।

जैनधर्म के इतिहास और कथा ग्रन्थों में जैन गृहस्थों और साधुओं की सैकड़ो वीरतापूर्ण अहिंसा पालन संबंधी गौरव

गाथायें भरी पड़ी है, जिनसे स्पष्ट हो जाता है कि किस प्रकार उन जैन गृहस्थों व साधुओं ने अपने-अपने पद के अनुरूप अहिसा धर्म का शानदार पालन करते हुवे वीरता, धीरता और गंभीरता का परिचय दिया था। बहुत प्राचीन कथाओं को छोड़कर इतिहास के उज्जवल रत्न मौर्य साम्राज्य शिरोमणि सम्राट् चन्द्रगुप्त, धर्मवीर, सम्राट् ऐल खारवेल, वीर सिरोमणि चामुंडराय और प्रतापी भामाशाह जैसे नररत्नों को ही ले लीजिये, जिन्होंने गृहस्थ के योग्य अहिसा धर्म का पालन करते हुए भी आततइयो से अपने देश, धर्म, समाज आदि की रक्षा करने में अद्भुत एवं प्रसंशनीय वीरता का परिचय दिया और देश व धर्म का संरक्षण करने में थोड़ी भी कायरता से काम नही लिया था। जो लोग अहिसा को भारत की पराधीनता का कारण कहते हैं उन्हे चाहिये कि वे जरा भारत के पराधीन बनने संबंधी इतिहास के अवलोकन का कष्ट स्वीकार करे, जिससे उन्हे मालूम हो जावेगा कि जिस समय भारत पराधीन बना है उस समय (ईसा की ग्यारहवी शताब्दी से लेकर १५ वी शताब्दी तक) भारतीय नरेशों ने लगातार विदेशी आक्रमणकारियों का वीरता के साथ सामना किया और उन्हे पराजित करते हुवे देश की पूर्ण रूप से रक्षा की; किन्तु अन्त में राजाओं की आपसी फूट, स्वार्थपरता व बिखरी शक्ति एवं कुछ लोगों की देश के प्रति की गई गद्दारी के कारण भारत पराधीन बना। अस्तु, सच तो यह है कि यदि गृहस्थ राज्यादि कार्यों को करते हुये अथवा गृहस्थी की जिम्मेदारी का भार सभालते हुवे विरोधी हिंसा का बिलकुल त्याग कर दे तो दुनियां में अंधेर मच जाये-

आततायी लोग लूट-मार, हत्या, व्यभिचार, बलात्कार, अत्याचार आदि करने मे निःशक हो कमर कस कर जुट जायें और किसी भी गृहस्थ का धर्म, जान, माल, देश आदि खतरे से खाली न रहे। इसलिये गृहस्थों से अहिंसा का एक देश पालन ही हो सकता है और उसी के पालन करने की उनसे प्रेरणा की गयी है।

यदि कोई गृहस्थ गृहस्थाश्रम के कार्यों से उदास होकर अपना भार किसी योग्य उत्तराधिकारी को सौप कर घर मे रहता हुवा भी आरंभी, उद्योगी व विरोधी हिंसाओं को त्यागना चाहे तो वह ऐसा भी कर सकता है। उसके लिये यह जरूरी नही है कि वह गृहस्थी मे रहकर सब प्रकार की हिंसाएं करे ही, बल्कि जितना इन झझटों के त्याग द्वारा विकारो पर विजय प्राप्त कर आत्मशुद्धि मे प्रवृत्ति की जाती है उतने ही अंशों में अहिंसा व धर्म है, और सांसारिक कार्यों को आदर्श मानते हुवे उनमें राग द्वेषादि रूप प्रवृत्तिकर आत्म पतन की ओर अग्रसर होना ही हिंसा व अधर्म है, इस दृष्टि से वह जितना अशुभ कार्यो का त्याग करेगा उतना ही अच्छा।

गृहस्थो के सिवाय साधुओं ने भी जो अपने योग्य पूर्ण रूप में अहिंसा का पालन करने के लिये हँसते-हंसते प्राणों तक का बलिदान कर कष्ट सहिष्णुता एवं धर्म प्रेम का परिचय दिया है वह भी वास्तव में शत मुख से प्रशंसनीय और अभिनंदनीय है। एक बार किसी साम्प्रदायिक धर्मान्ध राजा ने ५०० जैन साधुओं को उनके निरपराध रहते हुवे भी जीवित ही कोल्हू मे पिलवा दिया था; किन्तु उनमें से एक ने भी राजा के प्रति

द्वेष भाव करने या कायर बनकर भागने का प्रयत्न नहीं किया। ऐसे ही राजा बलि ने हस्तिनापुर में ७०० जैन साधुओं के संघ को धर्म द्वेष वश नरमेघ यज्ञ रचकर जीवित जला डालने का दुष्प्रयत्न किया था, किन्तु साधुगण तनिक भी ध्यान से विचलित नहीं हुवे। ध्यानस्थ सुकुमाल मुनि के अंग-प्रत्यंगों को एक स्यालिनी 3 दिन तक अपने बच्चों सहित धीरे-धीरे खाती रही और वे सुमेरु से भी अधिक स्थिर रहे व मन में जमात्र भी क्रोध या क्षोभ का भाव नहीं आने दिया और अन्त में प्राण तक गँवा दिये। कहाँ तक लिखा जाय, ऐसी २ हजारों कथाएँ सूचित करती हैं कि अहिंसा क्रोधादि विकार विजयी वीरों का धर्म है, जिसमें कायरता को लेशमात्र भी स्थान नही है।

इस प्रकार जैन-धर्मानुसार प्रत्येक गृहस्थ, राजा-महाराजा से लेकर गरीब तक व प्रत्येक साधु अपने पद व योग्यता एवं शक्ति के अनुसार अहिंसा का पालन करते हुवे संसार मे शांति के साथ जीवन व्यतीत कर आत्मा को पवित्र बना सकता है। वस्तुतः अहिंसा का पालन वीर पुरुष ही कर सकते हैं, कायर कदापि नहीं। यह बात सिद्ध करने के लिये हमें दूर जाने की आवश्यकता नहीं है, स्वयं जैन धर्म के सर्वेसर्वा २४ तीर्थंकर-भगवान् ऋृषभदेव से लेकर भगवान् महावीर पर्यन्त राज्य वंशोत्पन्न क्षत्रिय वीर राजकुमार थे और इनमे से ३ चक्रवर्ती सम्राट् के पद से विभूषित थे, जिन्होंने ६ खंड पृथ्वी की रक्षा का भार सभाल रखा था। इन सब ही महापुरुषों ने राज्य का न्याय-नीति से यथायोग्य संचालन किया और किसी-किसी ने आजन्म

ब्रह्मचर्य पालन करते हुवे राज्य का संचालन किये बिना ही कुमार वय मे कठोर तपश्चर्या कर परमात्म पद प्राप्त कर दूसरों को भी सन्मार्ग प्रदर्शन किया था। जिससे यह स्पष्ट है कि अहिंसा आत्मविकार विजयी वीरों का ही धर्म है, न कि कायरों का।

अहिंसा की साधना

अहिंसा की साधना के लिये सर्वप्रथम विचारों में पवित्रता, वाणी में मधुरता एवं कार्यों में यत्नाचार रूप प्रवृत्ति-संयमशीलता होना चाहिये। संयम में अपनी इन्द्रियो का निग्रह एवं प्राणियों की रक्षा करने के लिये सर्वप्रथम आहार की शुद्धि अत्यन्त आवश्यक है। रसना इन्द्रिय की लोलुपता में जीवों को मारकर अथवा स्वयं मरे हुए जीवों का कलेवर खाना, अंडे चूसना, मद्यपान करना व काम विकार को उत्पन्न करने वाली वस्तुओं का सेवन करना तथा मक्खियों का वमन रूप शहद जैसे अभक्ष्य पदार्थों को भक्षण करना अथवा अन्य ऐसे पदार्थो का सेवन करना-जिसमे जीवों का घात हुए बिना नही रहता, अहिंसक व्यक्ति के योग्य कदापि नहीं हो सकता और न इनके प्रथम त्याग किये बिना वह अहिंसा के पथ पर ही चल सकता। इसी प्रकार प्राणियों की रक्षार्थ पानी छानकर पीना, रात्रि को भोजन न करना, गले-सड़े फल व मर्यादा रहित अन्य, भोज्य पदार्थ, जिनमें कीटाणु पैदा हो चुके हों, न खाना भी आवश्यक है। स्वास्थ्य की दृष्टि से भी इन पदार्थों का सेवन न करना लाभदायक है। आहार की शुद्धि के साथ ही मनुष्य का अन्य व्यवहार भी प्रशस्त होना चाहिये—जिसके लिये उसे ४ अन्य पापों का त्याग

करना आवश्यक है; क्योंकि ये पाप भी आत्मा के गुणों का घात कर उसे पतन की ओर ले जाते हैं और दूसरों को भी कष्ट पहुँचाते हैं, अतः वे भी हिंसा के ही अंग हैं। वे चार प्रवृत्तियाँ (पाप) हैं—१. असत्य संभाषण २. परद्रव्यापहरण (चोरी), ३. कुशील (परस्त्री सेवन-व्यभिचार), ४. परिग्रह (संग्रह की मनोवृत्ति)। इन पाप कार्यों की जैनाचार्यों ने निम्न व्याख्या की है—

असत्य संभाषण और सत्य

लोक में जो बात जैसी है उसे वैसा कह देना ही सत्य और अन्यथा कहना असत्य, इस प्रकार सत्य-असत्य की मान्यता प्रचलित है, किन्तु सत्य और असत्य की परिभाषा तात्विक दृष्टि से बड़ी ही महत्वपूर्ण है। इस दृष्टि से असत् अभिप्राय पूर्वक वचन कहना, चाहे वे ज्यों की त्यों बात को ही प्रकट क्यों न करते हों, असत्य है और सदभिप्रायपूर्वक वचन का व्यवहार करना सत्य है।

जो दूसरों को पीड़ाकारी हों, निंद्य हों, पापमय हों या स्वार्थवश अन्यथा कहे गये हों, वे सब असद्वचन हैं। ऐसे वचनों से क्योंकि संसार में अशांति उत्पन्न होती है, दूसरों को कष्ट पहुँचता है और बोलने वाले को उस समय मन में आकुलता उत्पन्न होती है तथा उसका दुष्परिणाम भी भोगना पड़ता है, इसलिये ऐसे वचनों का बोलना हिंसा का ही एक अंग है। अतः त्याज्य है।

देखा जाय तो संसार में मानव का अधिकांश व्यवहार प्रायः वचनों के द्वारा चला करता है। वचन के द्वारा ही एक मनुष्य

दूसरे से अपनी बात प्रकट करता व उपदेश देता एवं लेन-देन का व्यवहार करता है। यदि मानव जगत से वचन की प्रवृत्ति नष्ट हो जाय तो मनुष्य और पशु के व्यवहार में संभवतः कुछ भी अंतर न रहे। वचन मे असीम शक्तियाँ निहित हैं। एक वचन वह है जो दुखी, अशात और व्याकुल मनुष्यों के अंतःकरण मे अमृत घोलकर मृत्यु के मुख से भी निकाल जीवन प्रदान करता है। इसके विपरीत एक वचन ऐसा भी होता है जो हृदय मे तीर सा चुभ जाता है और तलवार, छुरी व बदूक की गोली के आघात से भी अधिक पीड़ा व संताप का कारण बनकर स्वस्थ मनुष्य को भी मृत्यु के घाट उतार देता है। वचनो की सत्यता के बल पर ही दुनिया के संपूर्ण कारोबार ठीक-ठीक चल सकते हे और मनुष्य एक दूसरे पर विश्वास कर सकते हैं। इस समय जो दुनियाँ मे कुछ सोचने और कुछ कहने, वचन देकर पूरा न करने व विश्वासघात करने, दूसरों की निन्दा व आत्म प्रशसा के राग अलापने की प्रवृत्तियाँ बढ़ रही हे वे सब हिसा के ही अंग हैं—जिन्हें वाचनिक हिसा कहना उपयुक्त होगा। अतः मनुष्यों को चाहिये कि वह वचन का ठीक ठीक व्यवहार करे। पर निन्दा एवं पीडाकारी वचन कदापि न कहें और न ऐसे वचन बोलें जो दूसरों को हानिकारक अप्रिय, असत्य अथवा विश्वासघाती हों। यह निश्चित है कि जब तक अन्तःकरण पवित्र न होगा तब तक वचनो में यथार्थता और मधुरता नहीं आ सकती, इनके आये बिना संसार में न तो व्यवहार ही ठीक चल सकता और न शान्ति ही कायम हो सकती। आज मानव-

समाज में अधिकांश जन प्रायः झूठे और बेईमान बन गये हैं जो पैसे पैसे के लिये झूठ बोलना पाप नहीं समझते। वे इतने पतित हो गये हैं कि न्यायालयों में भी आकर शान के साथ झूठी शपथ खाने में नहीं लजाते। दो झूठे गवाह तैयार किये और मुकदमे में जीत का डंका बजा ! इससे न्याय का गला तो घुट ही रहा है, साथ ही दुनियाँ में भी अशान्ति फैल रही है। असत्य संभाषण से पारस्परिक विश्वास भी प्रायः समाप्त होता जा रहा है। इस भाँति जब कि समाज की सामूहिक शान्ति भी असत्य द्वारा भंग होती जा रही है और लौकिक व्यवहार भी इसके द्वारा ठीक-ठीक नहीं चल सकते तब फिर आत्मकल्याण और आत्मोन्नति का होना तो और भी असम्भव है। आत्मा असद्वचनों द्वारा आकुलित और पतित होता है तथा अपना पतन ही आत्मघात है जो हिंसा का ही दूसरा नाम है। अतः असद्वचनों का प्रयोग सभी दृष्टियों से त्याज्य है।

स्तेय (पर द्रव्यापहरण) व अस्तेय

बिना दिये पर वस्तु को ललचाकर ग्रहण करना अदत्ता-दान या चोरी है। चोरों में दूसरों की धनादि वस्तुओं को चुराकर हड़प जाने की तीव्र लालसा रहा करती है। इससे व्यक्ति का नैतिक पतन तो होता ही है—साथ में जिसकी चीज चुराई जाती है उसे भी कष्ट पहुँचता है। इसलिये यह भी हिंसा का एक अंग है।

धन सम्पत्ति को लोक में मनुष्य का ग्यारहवाँ प्राण कहा जाता है। इसे प्राप्त करने में मनुष्य दिन रात परिश्रम करते

हुवे शारीरिक और मानसिक अनेक प्रकार के कष्ट सहन करते हैं, और अपने कमाये हुए धन को प्राणों से भी प्यारा समझते हुवे उसे सुरक्षित रखने का भी प्रयत्न करते हैं। एक पैसा भी खो जाय या सुई जैसी वस्तु का भी पता न चले तो उनके प्राण व्याकुल हो जाते हैं। फिर भला अधिक कीमती वस्तुओं को बिना मर्जी या आज्ञा -के चुरा लेने मे किसे दुख न होगा ? अपनी किसी वस्तु के दूसरों द्वारा चुरा लिये जानें पर जो कष्ट हमें होता है उससे दूसरे की चीज चुराने पर उसके कष्ट का अनुभव आसानी से हो सकता है। इसके सिवाय बिना दिये पर वस्तु को चुराते समय स्वय की अन्तरात्मा में भी भय एव आकुलता का अनुभव होता है। इसलिये स्व-पर कष्टप्रद होने के कारण चोरी हिंसा का ही एक अंग है।

लोक व्यवहार में भी मनुष्य की सचाई की कसौटी और ईमानदारी का प्रमाण आर्थिक क्षेत्र मे ही मिलता है। जो मनुष्य पर की वस्तुओं मे मोहित नही होता और न बेईमानी से उन्हें हड़पने की ही इच्छा रखता है, वही अपने चरित्र बल से अपने को प्रामाणिक बना सकता है। किन्तु चोर और बेईमान, जो निरन्तर दूसरों का माल हड़पने की ताक में लगा रहता है वह आत्मा को पतन की ओर ले जाता हुआ आत्म-हिंसा और पर हिंसा दोनों के दोषों से मुक्त नहीं हो सकता और न ऐसे नीचतापूर्ण कार्यों से संसार में ही शान्ति स्थापित हो सकती है। अतः चोरी को हिंसा का अंग व पतन का कारण जानकर त्याग करना ही चाहिये। इसके अतिरिक्त नैतिक

दृष्टि से भी किसी के कमाये हुवे धन को अपहरण करने का किसी को कोई अधिकार नहीं है। प्रायः देखा जाता है कि दूसरों को ठगने और उनका द्रव्यापहरण करने के लिये मनुष्य नाना प्रकार के कुकृत्य करने लगे हैं, दूध में पानी, घी में तैल या वेजीटेबल तथा अन्य बहुमूल्य वस्तुओं में कम मूल्य की वस्तुएँ मिलाकर बेईमानी करने में लगे हुए हैं। ये कार्य चोरी नहीं तो और क्या है? यह तो चोरी के सिवाय विश्वासघात भी है जो महापाप है। अतः नैतिक और धार्मिक सभी दृष्टियों से इसका परित्याग आवश्यक है। इसके सिवाय यदि कोई व्यक्ति राजकीय कार्यालय या व्यापारिक संस्था, दुकान अथवा शिक्षण संस्था आदि किसी भी स्थान में अमुक मासिक वेतन पर नियुक्त है और जो भी उसके करने योग्य दैनिक कार्य हे यदि वह उन्हे पूरा नहीं करता तथा कार्य करने से जी चुराता रहकर गपशप मे या घूम फिरकर अथवा अन्य किसी प्रकार समय निकालता है एवं मास के अन्त में पूरा-पूरा वेतन लेता है, अथवा कोई श्रमिक जो जहाँ नियुक्त है अपना काम मन लगाकर पूरा न कर अपना पारिश्रमिक या वेतन पूरा लेता है अथवा कोई संस्थान का मालिक श्रम के मूल्य से कम पारिश्रमिक या वेतन देकर कर्मचारियों से कार्य कराता है तो यह भी एक प्रकार से अचौर्य भंग ही है—जो हिंसा का ही अंग है। बिना श्रम किये पारिश्रमिक लेना अथवा ईमानदारी से अपने कार्य को पूरा न करना तथा घूस लेकर भ्रष्टाचार करना और इन जैसे ही अन्य पर धनापहरण के कार्यों में प्रवृत्त होना भी चोरी है जो अचौर्य व्रत में त्याज्य है।

कुशील (चरित्रहीनता) व सच्चरित्रता

विषय-वासना में मदोन्मत्त होकर पर स्त्रियों पर कामुक दृष्टि डालना, भंड वचन बोलना या रमना ही कुशील या अब्रह्म कहलाता है। आत्मा को मोहित कर पतन की ओर ले जाने व उसे चरित्र भ्रष्ट करने के कारण प्रकट है कि वह भी हिंसा का ही एक अंग है। इसीलिये मनुष्य का कर्त्तव्य है कि वह उपर्युक्त हिंसा के कारण कुशील का भी अवश्य परित्याग करें।

प्राणियों में मोहवश जो विषय वासना जागृत होती है, उसकी पूर्ति स्त्री-पुरुष परस्पर में सम्भोग कर किया करते हैं। किन्तु पर वस्तु के भोग मे सच्चा सुख नहीं मिल सकता, इसीलिये मैथुन कर्म से भी सच्चा सुख नहीं मिलता। प्रत्युत् जितना अधिक विषय सेवन कर इन्द्रियों को तृप्त करने का प्रयत्न किया जाता है उतनी ही आकुलता और अशान्ति की ही वृद्धि होती है, जैसे अग्नि को शान्त करने के लिये तैल या इंधन डालने से लपटो की। फिर भी विषयांध मनुष्य उसमें सुख की कल्पना करते हैं। क्षणिक किन्तु निःसार सुखाभास के लिये विषयांध जनों की क्या दुर्दशाएँ होती हैं और वे कितना सुख अनुभव करते है, इस प्रश्न का उत्तर प्रत्येक मनुष्य अपने अन्त:करण से पूछ सकता है। अतः आत्मा को विषय सेवन द्वारा सुखी बनाने के लिये मैथुन सेवन करना और ब्रह्मचर्य का न पालना न केवल भ्रम है; बल्कि अपने पतन का भी कारण है, और इसीलिये हिंसा है। वे पुरुष और महिलाएँ धन्य है जो मन पर नियन्त्रण रखते हुवे पूर्ण रूप से ब्रह्मचर्य

का पालन करती हैं, किन्तु विषय वासना को पूर्ण रूप से जीतना प्रशंसा का कार्य होते हुवे भी सब के लिये आसान नहीं है। अतः जो पुरुष पूर्णरूपेण ब्रह्मचर्य का पालन करने में असमर्थ हैं उन्हें एक पत्नीव्रत और स्त्रियों को पतिव्रत का पालन कर विषय वासना को सीमित बनाना और संयम के साथ जीवन व्यतीत करना चाहिये। अपनी स्त्री के साथ भी सन्तानोत्पत्ति के उद्देश्य के सिवाय विषय भोग करने की विशेष लालसा नहीं रखनी चाहिये। एकपत्नीव्रत (ब्रह्मचर्याणुव्रत) का पालन न केवल धार्मिक, बल्कि नैतिक मर्यादा की दृष्टि से भी आवश्यक है और सामाजिक व्यवस्था एवं आत्म शान्ति के लिये तो अनिवार्य है।

मनुष्य जिन विशेषताओं से मनुष्य कहलाता है उनमें केवल सुन्दर वस्त्रों से शरीर को वेष्टित करना ही पर्याप्त नहीं; उसमें मनुष्यता लाती हैं उसकी सच्चरित्रता और विवेक। इन दोनों गुणों के अभाव में चरित्रहीन मनुष्य देहधारी को खुशी से पशु कहने में कोई हानि नहीं। आज संसार की दशा बड़ी विचित्र है। मनुष्य में मनुष्यता की अपेक्षा पशुता का बोलबाला है। सामने से किसी महिला के निकलने पर ललचाई हुई दृष्टि से सभ्य कहलाने वाले व्यक्तियों का घूरना एवं गन्दे शब्दों द्वारा सम्बोधन करना तथा स्त्रियों का निरन्तर पर पुरुषों को अपनी ओर आकर्षित करने के लिये भड़कीले वस्त्र और फैशन बदलने में विलासिनी स्त्रियों को भी मात करने का उपक्रम रचना, पतन के गह्वर की ओर कदम बढ़ाना नहीं तो और क्या है? आखिर

वह कौन सा सद्विचार है जिससे विवश होकर पुरुष और स्त्रियाँ उक्त कार्यों में प्रवृत्त होते हैं ? यह समस्या तब और भी जटिलता का रूप धारण कर लेती है—जब भोगवादी पुरुष, जो कि प्रत्येक सुन्दरी का सतीत्व नष्ट कर अपनी काम वासना को निरंकुश होकर तृप्त करना जीवन का उद्देश्य बना लेता है और निर्लज्जतापूर्वक नारी स्वातन्त्र्य का राग अलापता हुवा महिलाओं को किसी पति संज्ञक पुरुष के बंधन से मुक्त कर उन्हें स्वच्छन्द बिहार करने का उपदेश करता हुआ दिखाई देता है । इसी प्रकार आधुनिक शिक्षिता और सभ्य नारियां जब आत्म स्वातन्त्र्य के नाम पर पुरुष समाज को कोसती हुई आर्थिक स्वतन्त्रता के अतिरिक्त अन्य हर प्रकार की स्वतन्त्रता का भी शोर मचाती हुई सुनाई देती हैं एव सतीत्व को गुलामी का उपहार कहकर उसको ठुकराने मखौल उडाने एव स्वच्छन्च बिहार करने का दुस्साहस करने लगती हैं, तब तो समस्या और भी भयकर बन जाती है ।

इस समस्या का समाधान स्पष्ट है कि यदि मनुष्य मनुष्य ही बना रहना चाहता है और अपना जीवन पवित्रतापूर्वक बिताने के साथ समाज मे भी शान्ति एवं सच्चरित्रता कायम रखना चाहता है तो उक्त पाशविक वृत्ति का उसे त्याग कर देना ही श्रेयस्कर है । इन्द्रियों और मन के दास बनकर अपनी विवाहिता स्त्री के सिवाय अन्य स्त्रियों को बदनियत या बुरी दृष्टि से देखना एवं स्वच्छन्द उच्छृंखल प्रवृत्ति करना, पापशून्य कार्य नहीं कहला सकता और न इससे संस्कृति तथा सभ्यता

का विकास व आत्म शुद्धि ही हो सकती है। व्यभिचार में प्रवृत्ति कर स्वयं पतित होना आत्महिंसा और पर स्त्री को पतित करने में पर हिंसा भी स्पष्ट है।

ब्रह्मचर्य का ठीक-ठीक परिपालन करने की दृष्टि से अपनी शेष इन्द्रियों को वश में रखना भी परम आवश्यक है। चूंकि असंयमी की योगेच्छा कभी भी तृप्त नहीं होने पाती। और संयम को न पालन करने वाला मनुष्य निरन्तर ही असन्तुष्ट व दुखी रहा करता है तथा विषयों की पूर्ति के लिये यत्र तत्र मारा मारा फिरता है व दूसरों-को भी सताने, उनके अधिकार एव मुँह मे से रोटी तक छीनने जैसे नीचतापूर्ण कार्यों के करने पर तुल जाता है जिनमें हिंसा और अधर्म का होना अनिवार्य है। और जहाँ यह है वहाँ आत्म-शान्ति की कल्पना निरर्थक है। इस दृष्टि से इंद्रियों वश करना एवं संयम को अपनाना ही धर्म है।

४. परिग्रह (तृष्णा-मूर्छा) व अपरिग्रह

सुख शान्ति की प्राप्ति के लिये आत्मनिर्भरता के अभाव में इन्द्रियों के भोगोपभोगों में आनन्द मानकर आत्म भिन्न धनादि वस्तुओं मे जो मूर्छा (ममता का भाव) तथा उनके संग्रह करने की लालसा और तृष्णा है, वही परिग्रह नामक महा पाप है, जो कि संसार में भीषण अशान्ति, विषमता और संघर्ष का कारण होने से हिंसा का ही एक अंग है। धन, दौलत, जमीन, राज्य, ऐश्वर्य आदि भौतिक पदार्थों की ममता और लालसा के कुचक्र में फँसा हुआ एवं यह सोचता हुआ मनुष्य कि "मैं ही सम्पूर्ण सम्पत्तियों का स्वामी बन जाऊँ"

न जाने कितने और क्या क्या अनर्थों के करने में जुट जाता है। यह वह पाप है जो मनुष्य को न्याय अन्याय, धर्म-अधर्म, पुण्य-पाप, यश-अपयश, कर्तव्या-कर्तव्य के विचारों से शून्य बनाकर रात-दिन हाय-हाय व मोह माया के जाल में फँसाकर आत्मा की शान्ति को समूल नष्ट कर डालता है। आत्मशान्ति का नाश ही आत्म हिंसा है तथा मनचाहा धन व साम्राज्यादि का स्वामी बनने के लिये जो दूसरों केसाथ लूट, खसोट, बेईमानी, विश्वासघात, छलकपट, अन्याय अत्याचार और आक्रमण आदि करना पर-हिंसा है।

साम्राज्य और धन दौलत की आसुरी लालसा ने आज तक न जाने कितने मनुष्यों का जीवन बर्बाद कर डाला और उनके द्वारा न जाने कितने निर्दोष तथा निरीह प्राणियो के धन, जन व सर्वस्व को नष्ट भ्रष्ट करवा डाला। साम्रज्यशाही का जो दुनियाँ में नग्न ताण्डव होता रहता है और तोपो, बंदूकों, वमों, मशीनगनों, टैंकों आदि के जोर से साम्राज्यवादी जिस निर्दयता और पाशविकता का हृदय-हीन प्रदर्शन करते हुवे असंख्य निरीह जनता पर राक्षसों की भाँति टूटकर निर्मम हत्याओं तथा धनादि के अपहरणादि द्वारा अपनी आसुरी लालसाओं को तृप्त करने का प्रयत्न करते हैं तथा पहिले भी करते रहे हैं—वह सब परिग्रह नामक महापाप का दुष्परिणाम नहीं तो और क्या है? इसी प्रकार एक पर्याप्त धनवान् व्यक्ति जो असंख्य गरीबों पर अत्याचार करता हुवा इतराता और उससे भी अधिक धन संग्रह करने की लालसा मे अत्यन्त कठोर व हृदयहीन बन जाता है, वह

सब भी इस परिग्रह रूपी शैतान की करामात का निर्लज्ज प्रदर्शन ही है।

इसीलिये भगवान् ने कहा कि मनुष्यों! इस नाशवान धन-दौलत और राज्य की तृष्णा के वश हो जो तुम स्वार्थान्ध होकर दूसरों पर अत्याचारादि असंख्य पापों के करने में जुटे हुवे हो और उन्हें प्राप्त कर तुम जिन कल्पित सुखों को पाने के स्वप्न देख रहे हो, वह सब तुम्हारा कोरा भ्रम और पागलपन के सिवाय और कुछ नहीं है। अपनी आत्मा से भिन्न जिस धन या राज्य आदि की चाह मात्र से आत्मा में अशान्ति और आकुलता घटने के स्थान पर बढ़ने लगती है, तथा उनकी पूर्ति करने के लिये दूसरों के अधिकारों एवं सुखों की निर्मम हत्या करनी पड़ती है, फिर उनकी पूर्ति करके भी आज तक कोई भी तो सुखी न बन सका। बल्कि दूसरे मनुष्यों की भावनाओं में परिग्रही मनुष्य की सर्वभक्षी नियत ने ईर्ष्या और द्वेष को जन्म देकर अशान्ति ही उत्पन्न की है, जिसका परिणाम परिग्रही मनुष्य का पतन और अन्त में विनाश हुवा है। जबकि आत्म सन्तोषी जनों का जीवन सदा ही सुखी रहा है। स्वेच्छा से अपरिग्रह की वृत्ति और भावना को अपनाए जाने पर ही धनी-निर्धन के वर्ग संघर्षों का भी आसानी से अन्त होकर विश्व-बंधुत्व की भावना को कार्य रूप में परिणत किया जा सकता है।

अतः प्रत्येक समझदार मनुष्य का यह कर्तव्य है कि वह इस परिग्रह रूप महा पाप के जाल से जितनी शीघ्रता के साथ निकल सकता हो निकल जाये और यदि वह साधु

बनकर पूर्ण रूप से इसका त्याग करने में असमर्थ हो तो कम से कम अपनी आवश्यकता के अनुसार धनादि वस्तुओं का परिमाण (सीमा) करके सन्तोष के साथ गृहीजीवन व्यतीत करे तथा संग्रहीत धन से दूसरे दीन, हीन मनुष्यों की सहायता कर उनके दुखो को दूर करने का प्रयत्न करें। यह ख्याल रहे कि सन्तोष ही परम धन है। सन्तोष के बिना धनादि जड़ पदार्थों से वास्तविक सुख नही मिल सकता। "यदि दूसरों का मेरे कमाये हुए धन द्वारा भला होता है—उनके भौतिक दुखों का अन्त होता है, तो क्यो न ऐसा कर मैं दूसरों के कष्टों को दूर करूँ—जबकि वे भी मेरी ही तरह दुःखो से छूटना और सुखी बनना चाहते है ?" इस प्रकार की भावना रखने वाला मनुष्य ही धर्म के मार्ग पर चलकर सच्चा मनुष्य बन सकता तथा अपने साथ दूसरों को भी सुखी बनाने और संसार में शान्ति स्थापित करने मे परम सहायक सिद्ध हो सकता है। यह अपरिग्रह की भावना ही सच्चा साम्यवाद या समाजवाद है।

उल्लिखित विवेचन से स्पष्ट है कि स्व-पर कल्याण की दृष्टि से परिग्रहादि पाप विहीन सर्वतोमुखी आदर्श अहिसा ही सच्चा धर्म है, जिसे जैन तीर्थंकरों ने अपने मूल सिद्धान्त के रूप में घोषित कर संसार के प्राणिमात्र के लिये सच्चे सुख और शान्ति का पवित्र मार्ग प्रशस्त किया है। अतः विश्व में शान्ति स्थापित करने हेतु हमें प्राणिमात्र को अपना बन्धु समझते हुए अहिसा को हृदय से अपनाकर एक नवीन विश्व का निर्माण करना होगा। जिसमे सब लोग एक कुटुम्ब की तरह मिलकर

प्रेम के साथ शान्तिपूर्ण जीवन व्यतीत करते हुवे पूर्ण स्वतन्त्रता और सुख के मार्ग पर अग्रसर हों।

तीर्थंकरों का यह पवित्र सन्देश मनुष्य ही नहीं, प्राणि-मात्र को सच्चा सुख प्रदान करने के वैज्ञानिक एवं पवित्र आदर्श को लेकर न जाने कितने युगों से भगवान् महावीर जैसी विभूतियों द्वारा समय-समय पर फूला-फला है तथा आज भी विश्व-कल्याण की उच्चतम भावना के साथ इस वर्तमान भीषण अशान्ति की गोद में खेलते हुवे दुःखी संसार में स्थायी शान्ति स्थापित कर प्राणिमात्र को सुख प्रदान करने में पूर्ण समर्थ है, जिस पर प्रत्येक व्यक्ति को शान्त एवं निष्पक्ष भाव से विचार करने के साथ ही अपने जीवन में भी उतारना आवश्यक है।

द्वितीय खण्ड

विश्वदर्शनों में जैनदर्शन का स्थान

वस्तु तत्व के सम्बन्ध में ठीक-ठीक शोध वा खोज को दर्शन कहते है तथा जगत और उसके पदार्थों की विवेचना करना दर्शन का कार्य है। विश्व के समस्त दर्शनों से जैन दर्शन के मान्य तत्व एवं उनके विचार करने की प्रणाली सर्वथा भिन्न मौलिक और महत्वपूर्ण है। अन्य दार्शनिक जहाँ वस्तु जगत के सम्बन्ध में सर्वथा एक दृष्टि से ही विचार करना चाहते और अपने उस एकांगिक दृष्टिकोण के द्वारा देखे या जाने गये वस्तु के एक अंश को ही पूर्ण वस्तु समझना व समझाना चाहते है एवं अपने से भिन्न दृष्टिकोण द्वारा देखी गयी वस्तु को, जो कि दूसरी दृष्टि से यथार्थ है, मिथ्या कहकर वस्तु स्वरूप की पूर्णता का ज्ञान प्राप्त करने से मुंह मोड़कर हठवाद का आश्रय ले पक्षपात के गहन गह्वर की ओर जाने का प्रयत्न करते हैं, वहीं जैनदर्शन उदारतापूर्वक वस्तु के सम्बन्ध में अनेकान्तमयी उदार दृष्टियों से उसके हर एक गुण और अवस्था पर विभिन्न दृष्टियों से ठीक-ठीक विचार कर वस्तु स्वरूप का वैज्ञानिक रीति द्वारा पूर्ण और यथार्थ ज्ञान कराने का प्रयत्न करता है। यही नहीं, जबकि दो दर्शन एक ही वस्तु के सम्बन्ध में उसके विभिन्न दृष्टियों द्वारा देखे गये भिन्न-भिन्न गुणों का आश्रय लेकर परस्पर विसंवाद करते हुवे एक दूसरे के विचारों

का उचित रूप में समादर करना तो दूर, सुनना भी नहीं चाहते और एक दूसरे को झूठा तक कहने का साहस करने लगते हैं—जैसे बौद्ध दर्शन जब केवल वस्तुओं की परिवर्तित अवस्थाओं पर ही दृष्टि रखकर उनके बदलते रहने के कारण वस्तुओं को सर्वथा अनित्य (क्षणिक) मानता और नित्यवादी सांख्य को झुठलाता है तथा सांख्यदर्शन जब कि वस्तु के केवल गुणों पर विचार करता हुआ (क्योंकि वे कभी नष्ट नहीं होते अतः) वस्तु को सर्वथा कूटस्थ नित्य सिद्ध करने का प्रयत्न करता है एव उनकी बदलने वाली हालतों पर तनिक भी विचार न कर इस ओर दृष्टि को संकुचित बना अनित्यवादी बौद्ध दर्शन को झूठा साबित करने का प्रयत्न करने लगता है, वहीं जैनदर्शन कहता है कि मित्रो! तुम दोनो यथार्थवाद को छोड़कर अपने संकुचित दृष्टिकोणजन्य पक्षपात का आश्रय लेकर व्यर्थ मात्सर्य न करो और न एक दूसरे को भला-बुरा कहो। वस्तु पर्याय (हालत) की दृष्टि से अनित्य (क्षणिक) और द्रव्य व गुणों की दृष्टि से नित्य (स्थिर) है। वस्तु का स्वभाव अनेकात्मक (अनेक धर्म या स्वभाव वाला) है। एक ही वस्तु मे नित्य गुण व उसकी बदलती हुई अनित्य पर्यायें सचमुच ही बिना किसी विरोध के हुआ करती है तथा गुणों और पर्यायों के समुदाय का नाम ही द्रव्य है। एक ही द्रव्य अपने सम्पूर्ण गुणों को साथ लिये हुए अनन्त पर्यायों (हालतों) को धारण करता रहता है और इसीलिये वह कथंचित् नित्य व कथंचित् अनित्य है—गुणों की दृष्टि से नित्य और पर्याय की दृष्टि से अनित्य।

इसी प्रकार वेदांत दर्शन प्रतिपादन करता है कि—

सर्व खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किंचन् ॥
आराम तस्य पश्यन्ति न तं पश्यति कश्चन् ॥

अर्थात् यह सब-जो कुछ भी प्रतिभासित हो रहा है—ब्रह्म ही है, उसके सिवाय और कुछ नहीं। हम सब उसके नाना रूपों को देखते है किन्तु उसे कोई नहीं देखता।

स्पष्ट है कि वेदान्त दर्शन की दृष्टि मे जड़ चेतन का कोई वास्तविक भेद नही। हमे जो कुछ भेद जान पड़ता है वह सब माया का प्रभाव है। असल मे एक ब्रह्म ही है जो नाना रूपों में दिखाई देता है। माया से प्रतिभाषित होने वावे भेद में कोई वास्तविक तथ्य भी नही, क्योकि स्वयं माया का ही कोई वास्तविक अस्तित्व नहीं। इस प्रकार वेदान्त दर्शन द्वारा अपनी-अपनी सत्ता को लिये हुवे स्वतन्त्र रूप में विद्यमान अनन्त जड और चेतन पदार्थों में किसी भी रूप में वास्तविक भेद स्वीकृत न होने से उसके द्वारा मुक्ति और ससार के भेदों का भी समूल उच्छेद हो जाता है; क्योंकि हम सब उसी एक अखंड व्यापक सत्ताक परम ब्रह्म के अंश है— जो कि सर्वदा आनन्द और निरावरण ज्ञान का अखड स्रोत है। स्पष्टत अखड ब्रह्म का अभिन्न अंश भी सदा आनन्द एवं ज्ञानमयी ही होना चाहिये, क्योंकि माया—जिसका कि स्वयं वास्तविक अस्तित्व नहीं है, अपने प्रभाव से हमारा कुछ भी बिगाड़ नहीं कर सकती। इसके सिवाय यहाँ हम प्रत्येक शरीर में भिन्न-भिन्न चेतना का अनुभव तो करते ही हैं, साथ ही सुख-दुख, इच्छा, प्रयत्न, पुण्य, पाप एवं राग द्वेष क्रोधादि भिन्न-भिन्न

प्रकार के भावों का भी एक दूसरे से बिल्कुल भिन्न ही अनुभव करते हैं—जो कि एक अखंड परम ब्रह्म में, जिसका कि स्वरूप परमानन्द एवं ज्ञानमय है, नितांत ही संभव प्रतीत नहीं होता। न फिर ऐसी दशा में संसार और मोक्ष की व्यवस्था ही बन सकती है। क्योंकि एक ही ब्रह्म के कुछ अंश संसार में रुलते फिरें और कुछ चैन की बंशी बजावें, यह बात अखंड बहुसंख्यक जीवों की पृथक् सत्ता स्वीकार किये बिना नहीं बन सकती। इस प्रकार वेदान्त जहा चैतन्य स्वरूप एक ब्रह्म ही ब्रह्म की कल्पना कर अचेतन अनन्त जड पदार्थों की सत्ता का लोप करने और उन्हें माया का महल कहकर उड़ा देने का प्रयत्न करता है, वही चार्वाक सिद्धान्त (नास्तिक) ठीक इसके विपरीत उच्च स्वर से घोषणा करता है कि भौतिक जड़ तत्त्वों (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु आदि पंच भूतों) के सिवाय आत्मा या ब्रह्म की विश्व में किसी भी रूप मे कोई स्वतन्त्र सत्ता ही नहीं है जो कुछ भी है वह सब जड पदार्थो का ही खेल है। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश ही वास्तव मे सत्दार्थ हैं और इन्हीं जड़ पदार्थों की विशेष संयोगी दशा में चैतन्य पर्याय की कुछ समय के लिये अभिव्यक्ति हो जाती है—जिसे जीव या जीवन कहते हैं और फिर किन्हीं कारणों से उस पर्याय का लोप हो जाता है, जिसे मरण कहते हैं। न तो आत्मा या जीव नाम का कोई स्वतन्त्र तत्त्व है और न परलोक। इसी-लिये पुण्य, पाप, बंध, मोक्ष आदि भी कुछ नही है।

इस प्रकार ये दोनों सिद्धान्तवादी जबकि सर्वथा एकान्त-परक भावनाओं एवं कल्पनाओं के प्रवाह में बहकर जहाँ तथ्य

से परे जाने और प्रमाण एवं अनुभव सिद्ध अनन्त और स्वतन्त्र जीव, अजीव वस्तु सत्ता का लोप कर आपस में विवाद करते हुवे दिखाई देते हैं वही जैन दर्शन का कहना है कि जगत में जड और चेतन दोनों की सत्ता वास्तविक है और दोनों अनन्त संख्या में विद्यमान हैं। न तो विश्व में काल्पनिक एक अखण्ड सर्वव्यापक परम ब्रह्म ही है—जिसमें जड़ चेतन का वास्तविक भेद न हो और न चेतना का सर्वथा अभावमयी केवल जड़ (पंचभूत) की ही सत्ता है। उपरोक्त मत वादियों का कथन विभिन्न दृष्टियों से अपनी-अपनी पहुँच और समझ के अनुसार जगत का निरीक्षण करने का परिणाम है। इनमें एक दृष्टि को सर्वथा सत्य और दूसरी को सर्वथा असत्य मानने या दूसरी को सर्वथा सत्य एवं पहली को सर्वथा असत्य मानने से विवाद तो खड़ा होता ही है—साथ ही प्रमाण सिद्ध वस्तु तत्त्वों की सत्ता और व्यवस्था भी, जो कि वास्तव में है, भंग हो जाती है।

गम्भीरता से विचार करने पर ज्ञान, दर्शन सुखादि का अनुभव, चेतनाविहीन जड़ शरीर और इन्द्रियों को कभी नहीं हो सकता। स्पष्टत: प्रत्येक शरीरधारी व्यक्ति में उक्त गुणों का पृथक्-पृथक अनुभव करने वाले भिन्न-भिन्न जीवों की सत्ता उनके ज्ञानादि गुणो की भिन्नता को लिये हुवे सदा से है और सदा ही रहेगी। इसी प्रकार चेतनाशून्य बहुसंख्यक जड पदार्थों की सत्ता भी अपनी-अपनी विशेषताओं के साथ विद्यमान है। रूप, रस, स्पर्शादि गुणों को लिए हुवे अनन्त परमाणु और स्कन्धों का प्रत्यक्ष ही अनुभव हो रहा है। इस

भाँति न तो विभिन्न जड़ पदार्थों का ही अभाव किया जा सकता है और न सर्वथा चेतना या जीवन शक्ति सम्पन्न ब्रह्म या आत्माओं का ही।

बात असल में यह है कि जब हम सत् सामान्य यानी अस्तित्व की दृष्टि से पदार्थों का निरीक्षण करते हैं या समाधि दशा में ज्ञान स्वरूप आत्मा में लीन रहते हैं तब हमारी आत्म-भिन्न जड़ चेतन पदार्थों की भिन्न-भिन्न सत्ता पर दृष्टि नहीं रहती और न अपने ज्ञान दर्शन सुखादि भिन्न-भिन्न गुणों पर ही दृष्टि जाती है। हमें उस समय एक अखण्ड सन्मात्र आत्मतत्त्व (चाहे उसे ब्रह्म कहें) का अवभासन होता है। वहाँ नाना विकल्पों की न तो उत्पत्ति ही होती और न उनको उस समय भिन्न-भिन्न रूप में अनुभवन की आवश्यकता ही है। इसलिये आत्म-साधना मे लीन एकाग्र ध्यानी पुरुष को आत्मा के सिवाय कुछ न दीखने (उन पर दृष्टि न होने से) यदि एकमात्र निर्विकल्प चेतन तत्त्व का ही अवभासन हो तो ध्यानमग्नता की दृष्टि से कोई असम्यक् बात नहीं; किन्तु जब वही आत्मदृष्टा यह कहने लगता है कि आत्मा या मेरे सिवाय और सब पदार्थ हैं ही नहीं, या जो कुछ भी अन्य पदार्थों का प्रतिभास हो रहा है यह सब मैं ही हूँ—अन्य पदार्थों की भिन्नता काल्पनिक या अवास्तविक है, तो यह बात फिर वास्तविकता से परे हो जाती है। क्योंकि एक व्यक्ति को ध्यानावस्था में सिवाय अपनी आत्मा और उसके गुणों के अन्य कुछ भी प्रतिभासित भले ही न हो, किन्तु इतने मात्र से आत्म-भिन्न अनन्त जड़ चेतन पदार्थों का अभाव नहीं हो जाता और न ऐसा माना ही जा सकता।

पदार्थों की एकता और अनन्तता पर विचार करने पर:—

जीवत्व सामान्य की दृष्टि से जितने भी जीव या चैतन्य-मयी बहुसख्यक पदार्थ हैं उन्हे वस्तु सामान्य की दृष्टि से एक कह सकते हैं। किन्तु जब हम उनकी संख्या, संज्ञा और जीवन-परण, सुख-दुखादि की विविधता एवं व्यक्तित्व पर दृष्टि डालते और अनुभव करते हैं तथा प्रत्येक व्यक्ति को स्वय की अपनी सत्ता का अपने शरीर तक ही सीमित होने का अवभास होता है तब चेतन तत्त्व को अनन्त संख्याक भी मानना और कथन करना सत्य है। सर्वथा एक, अखण्ड, सर्वव्यापक ब्रह्मतत्त्व में व्यक्तिगत विभिन्न प्रकार के सुख-दुख का अस्तित्व सभव नही और न वह प्रमाण व अनुभव सिद्ध ही है।

ऐसे ही नास्तिकवादी चार्वाक के अनुसार यदि पंचभूतमयी केवल जड तत्त्व को ही वास्तविक मानकर चेतन तत्त्व की सत्ता का समूल उच्छेद कर दिया जावे तो यह भी ठीक नही। वस्तु के स्वरूप मे भेद की व्यवस्था लक्षणो या गुणो द्वारा ही की जाती है। एक वस्तु दूसरी वस्तु से भिन्न है इसकी नियामिका उन वस्तुओं के गुणों की भिन्नता ही है। आत्मा (जीव) और जड़ पदार्थो मे गुणों की भिन्नता प्रत्यक्ष और अनुभवसिद्ध है। "मेरा यह शरीर है, मेरी ये इन्द्रियां हैं", मैं दया करता हूं, इन वाक्यों में जो स्वामी बनकर या कर्त्ता होकर बात करता है, वही तो शरीरादि से भिन्न चेतन या आत्मतत्त्व है, जो शरीरादि के रूप, रस स्पर्शादि से भिन्न एवं ज्ञान, दर्शन सुखादि गुणों से सम्पन्न है और शरीरादि से भिन्न स्वयं को स्वयं में स्वय ही अनुभव करता है।

सारांश यह कि अपने-अपने ज्ञान दर्शन सुखादि गुणों से संयुक्त जीवतत्व जो प्रत्येक शरीरधारी में प्रत्यक्ष और अनुभव सिद्ध प्रतीत हो रहा है वह काल्पनिक नहीं, वास्तविक है। उसी प्रकार जड़ तत्त्व (जिसे पुद्गल कहते हैं) भी अपने रूप, रस, गंध, स्पर्श आदि गुणों एवं विभिन्न आकारों व अवस्थाओं में जाना और देखा जाता है वह भी भी एक तत्त्व है, जो जीव से भिन्न है। दोनों के स्वरूप और गुण उनकी भिन्नता को स्पष्टतया प्रमाणित करते है। इस प्रकार हम जब इन वस्तुओं को सामान्य दृष्टि से अर्थात् वस्तुत्व की दृष्टि से देखते हैं तब सब एक और अभिन्न प्रतीत होते है और जब व्यक्तित्व या विशेष दृष्टि से देखते हैं तब इनमें अनेकता और भिन्नता भी स्पष्ट सिद्ध हो जाती है।

इसी प्रकार प्रत्येक वस्तु में उसकी द्रव्यगत एकता और गुणात्मक अनेकता भी विद्यमान है : जैसे एक ही जीव मे ज्ञान-दर्शनादि गुणों एवं नर-नारकादि पर्यायों की दृष्टि से अनेकता है; क्योंकि जो ज्ञान है वह दर्शन नही और मनुष्य नारकी नहीं। किन्तु जब हम जीवत्व की दृष्टि से विचार करते हैं तब उसमे ज्ञान-दर्शनादि गुणों की सत्ता भिन्न-भिन्न नही दिखती; क्योंकि ज्ञानादि गुण आत्मा मे भिन्न सत्ता को नही रखते, आत्मा कोई भिन्न पदार्थ हो और उसमें ज्ञान, दर्शन आदि गुण सर्वथा भिन्न सत्ता को लेकर निवास करते हों, सो बात भी नही, लक्ष्य लक्षण द्वारा वस्तु स्वरूप को कहने और समझने-समझाने के लिये ही गुण-गुणी का भेद है, किन्तु एक वस्तु में उसके गुणों का तादात्म्य होने से अभेद भी है। गुण वस्तु मयी है और वस्तु गुणमयी।

इस भाँति जैन दर्शन अपने वास्तविक एवं उदार दृष्टि-कोण द्वारा वस्तु तत्त्व का निष्पक्ष और यथार्थ विवेचन करता हुआ वस्तु को अनन्त गुण पर्यायात्मक स्वीकार कर उनका निर्बाध कथन करके मनुष्य के ज्ञान को पूर्णता की ओर ले जाने एवं उसकी ज्ञान पिपासा को शान्त करने का प्रयत्न करता है। यह प्रत्येक बुद्धिमान स्वीकार करेगा कि एक, अपूर्ण (अधूरी) संकुचित एवं पक्षपातपूर्ण दृष्टि द्वारा किया गया कोई भी ज्ञान पूर्ण या यथार्थ ज्ञान कहलाने का दावा नहीं कर सकता और न उस ज्ञान के द्वारा कोई अपने को पूर्ण ज्ञानी या सर्वज्ञ ही बना सकता, क्योंकि विश्व में विद्यमान अनन्त पदार्थ और उनके स्वभाव व कार्यक्रम स्पष्टतः विभिन्न और बहु-संख्यक है ओर उन्हें एक ही दृष्टिकोण के अन्तर्गत पूर्णतः ले आना कठिन नहीं, असम्भव है। अतः विश्व के अन्य दर्शनों ने अपने एक ही दृष्टिकोण के द्वारा जहाँ वस्तु के सम्बन्ध में विचार कर अन्य दृष्टिकोणों के द्वारा प्रतीत होने वाले वस्तु के अन्य अंशों के सम्बन्ध में आँखें मीचने का प्रयत्न किया या उनके सम्बन्ध में विचार करने से इन्कार कर दिया तथा अपनी संकुचित दृष्टि से उसे मिथ्या और भ्रमरूप बताते हुए अपने अंशात्मक ज्ञान को ही पूर्ण और सत्य कहा, वहीं जैन दर्शन ने तत्वज्ञान के सम्बन्ध में उदारता से काम लेते हुवे वस्तु को विभिन्न दृष्टिकोणों से देखने और विचार करने के लिये प्रेरित करते हुए निष्पक्ष होकर वस्तु का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने का अवसर दिया। यही जैन दर्शन की महती मौलिकता है जो उसे पूर्ण दर्शन कहने के लिये प्रेरित करती

हुई सम्प्रदायवाद से उत्पन्न संघर्षों को दूर कर उन्हें एकता के सूत्र में पिरोने और सब ही के विचारों का आदर करती हुई (यदि वे निष्पक्ष हों तो उन्हें सत्य घोषित कर) विश्व को सत्य प्राप्ति की ओर अग्रसर करती है। इसी अनेकान्तमयी उदार और निष्पक्ष दृष्टिकोण द्वारा वस्तु तत्त्व को आग्रह हीन वाणी द्वारा प्रकट करने की प्रणाली को जैनदर्शन में स्याद्वाद के के नाम से प्रकट किया गया है, जो कि वस्तु के किसी एक गुण को प्रकट करने की इच्छा होने पर उसे (प्रकट करते समय) मुख्य व उसी के अन्य शेष गुणों को गौण कर कहता है कि वस्तु का स्वरूप विवक्षित गुण की अपेक्षा ऐसा है एवं अन्य दृष्टियों से दूसरा भी है। इससे यह स्पष्ट है कि एक ही वस्तु किसी दृष्टि से भेद रूप और किसी से अभेद रूप, एक रूप-अनेक रूप, नित्य रूप, अनित्य रूप, सद् रूप, असद्रूप आदि कही और मानी जानी चाहिये, वास्तव में वह है भी ऐसी ही।

प्रश्नः—एक ही वस्तु को सत् और असत् मानने में स्पष्ट-तथा विरोध आता है—जो सत् है वही असत् कैसे?

उत्तरः—यह विरोध ठीक होता, यदि जिस दृष्टि से सत् कहा गया है उसी से असत् भी कहा जाता; किन्तु ऐसा नहीं है। वस्तु को स्वरूप की दृष्टि से सत् और पर रूप से असत् कहा जाता है, जिसमें कोई बाधा नहीं आती। वस्तु के सम्बन्ध में अनुभव भी ऐसा ही होता है। जीव को ही ले लीजिये, जीव अपने गुणों और अवस्थाओं की दृष्टि से सतरूप है और पर (अजीव) के गुणादि की अपेक्षा असद् रूप है—अर्थात् जीव-

जीव है, अजीव नहीं। यदि जीव को जीवत्व की दृष्टि से ही असत् माना या कहा जाता तो अवश्य विरोध आता; किन्तु ऐसा नहीं है। सोना, सोना है, चाँदी नहीं, इस भाँति एक ही सोने में स्वरूप का अस्तित्व (मौजूदगी) और पर रूप का नास्तित्व (गैरमौजूदगी) दोनों बाते समान रूप से निश्चित रूप में विद्यमान हैं। यदि ऐसा न माना जायगा तो वस्तु के स्वरूप की न तो व्यवस्था बन सकेगी और न उनका ठीक-ठीक ज्ञान ही हो सकेगा। उदाहरणार्थ यदि सोना सब दृष्टियों से सत्रूप ही माना जावे और पर रूप से असत् न माना जाये तो वह चाँदी भी हुआ, ताँबा भी हुआ और सब कुछ हुआ; क्योंकि सब दृष्टियों से सद्रूपता ही स्वीकार की गयी है, न कि स्वरूप से सद्रूपता और पररूप से असद्रूपता। अत: अनेक दृष्टिकोणो की अपेक्षा अनेक धर्म, वस्तु में जो कि वास्तविक रूप से विद्यमान है, अनेक या एक समय मे भिन्न-भिन्न रूप मे किसी एक की मुख्यता और शेष की गौणता से कहे और माने जाने चाहिये। यही स्याद्वाद प्रणाली है जो कि वस्तु के वास्तविक स्वरूप का प्रतिपादन करती हुई तत्वज्ञान को वैज्ञानिक रीति से पूर्णता की ओर ले जाने वाली है। एक संकुचित दृष्टि से जानी गयी वस्तु का ज्ञान अधूरा और आंशिक है, जब तक उस पर पूर्ण रूप से विचार न किया जाये। किन्तु विश्व के दार्शनिक प्राय: अपने एकांगिक वस्तु विज्ञान को ही पूर्ण ज्ञान मानना और समझाना चाहते है एवं अपने उस एक ही दृष्टिकोण को पूर्ण सत्य तथा अन्यों को असत्य कहकर हठ और पक्षपात का आश्रय लेकर, संकुचित

व अनुदार बन अपना भिन्न सम्प्रदाय खड़ा कर आपस में द्वेष और मात्सर्य करने लगते हैं; जबकि जैनदर्शन सब दर्शनों का समन्वय कर उन्हें पक्षपात छुडाने, वस्तु को अनेक धर्मात्मिक स्वीकार कराने (जैसी की वह है) और उनके अधूरे ज्ञान को पूर्णता की ओर ले जाने की उदारतापूर्ण घोषणा कर दुनियाँ के लिये युक्तिसंगत मौलिक और वास्तविकता वैज्ञानिक दिशा प्रदान करता है।

जैन दर्शन का यह उदार दृष्टिकोण ही तत्व दर्शन की सही प्रणाली तथा समन्वयात्मक होने से सर्वदर्शन की ठोस बुनियाद सिद्ध हो जाता है और इसी के आधार पर वह अपने को पूर्ण दर्शन कहलाने का अधिकारी भी।

जैन दर्शन के सम्बन्ध में गवर्नमेन्ट संस्कृत कॉलेज बनारस के भूतपूर्व प्रिंसिपल एम. ए. डी. फिल (आक्सन) आदि उपाधियों से विभूषित विद्वान् श्री मंगलदेवजी शास्त्री "जैन दर्शन की देन" शीर्षक के अन्तर्गत लिखते हैं—

"भारतीय दर्शन के इतिहास मे जैनदर्शन की अपनी एक अनोखी देन है।...यह स्पष्ट है कि किसी तत्व के विषय में कोई भी तात्विक दृष्टि एकान्तिक नहीं हो सकती। प्रत्येक तत्व में अनेकरूपता स्वभावतः होनी चाहिये। और कोई भी दृष्टि उन सब का एक साथ तात्विक प्रतिपादन नहीं कर सकती। इसी सिद्धान्त को जैन दर्शन की परिभाषा में अनेकांत दर्शन कहा गया है। जैन दर्शन का तो यह आधार-स्तम्भ है ही, परन्तु वास्तव में प्रत्येक दार्शनिक विचारधारा के लिये भी इसको आवश्यक माना जाना चाहिये।

बौद्धिक स्तर में इस सिद्धान्त के मान लेने से मनुष्य के नैतिक और लौकिक व्यवहार में एक महत्वपूर्ण परिवर्तन आ जाता है। चारित्र ही मानव जीवन का सार है। चारित्र के लिये मौलिक आवश्यकता इस बात की है कि एक ओर तो मनुष्य अभिमान से अपने को पृथक् रखे साथ ही हीन भावना से भी अपने को बचाये। स्पष्टतः यह मार्ग अत्यन्त कठिन है। वास्तविक अर्थों में जो अपने स्वरूप को समझ आत्मसम्मान करता है, और साथ ही दूसरे व्यक्तित्व को भी उतना ही सम्मान देता है वही उपर्युक्त दुष्कर मार्ग का अनुगामी बन सकता है। इसीलिये सारे नैतिक समुत्थान मे व्यक्तित्व का समादर एक मौलिक महत्त्व रखता है। जैन दर्शन के उपर्युक्त अनेकान्त दर्शन का अत्यन्त महत्त्व इसी सिद्धान्त के आधार पर है कि उसमें व्यक्ति का सम्मान निहित है।"

वे आगे लिखते है:—

"जहाँ व्यक्तित्व का समादर होता है वहाँ स्वभावतः साम्प्रदायिक संकीर्णता, संघर्ष या किसी भी छल, जाति, वितंडा जैसे असदुपाय से वादि पराजय की प्रवृत्ति नहीं रह सकती। व्यावहारिक जीवन मे भी खण्डन के स्थान मे समन्वयात्मक निर्माण की प्रवृत्ति ही वहाँ रहती है। साध्य की पवित्रता के साथ साधन की पवित्रता का महान आदर्श भी उक्त सिद्धान्त के साथ ही रह सकता है। इस प्रकार अनेकान्त दर्शन नैतिक उत्कर्ष के साथ-साथ व्यवहार शुद्धि के लिये भी जैन दर्शन की एक महान् देन है।

विचार जगत का अनेकान्त दर्शन ही नैतिक जगत में आकर अहिंसा के व्यापक सिद्धान्त का रूप धारण कर लेता है। इसीलिये जहाँ अन्य दर्शनों में परमत खण्डन पर बल दिया गया है वहाँ जैन दर्शन का मुख्य ध्येय अनेकान्त सिद्धान्त के आधार पर वस्तुस्थिति मूलक विभिन्न मतों का समन्वय रहा है। वर्तमान जगत की विचारधारा की दृष्टि से भी जैन दर्शन के अहिंसामूलक सिद्धान्त का अत्यन्त महत्त्व है। आजकल के जगत की सबसे बड़ी आवश्यकता यह है कि अपने-अपने परम्परागत वैशिष्ट्य को रखते हुवे भी विभिन्न मनुष्य जातियाँ एक दूसरे के समीप आवें और उनमें एक व्यापक मानवता की दृष्टि का विकास हो। अनेकान्त दर्शन (समन्वय की दष्टि) से ही यह सम्भव हो सकता है।

इसमें सन्देह नहीं कि न केवल भारतीय दर्शन के विकास का अनुगम करने के लिये, अपितु भारतीय संस्कृति के स्वरूप के उत्तरोत्तर विकास को समझने के लिये भी जैन दर्शन का अत्यन्त महत्त्व हैं। भारतीय विचारधारा में अहिंसावाद के रूप में अथवा परमत सहिष्णुता के रूप में अथवा समन्वयात्मक भावना के रूप में जैन दर्शन और जैन विचार धारा की जो देन है उसको समझे बिना वास्तव में भारतीय संस्कृति के विकास को नहीं समझा जा सकता।"

हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी में दर्शनशास्त्र के भूतपूर्व प्रोफेसर श्री फणिभूषण अधिकारी कहते हैं:—

"जैन धर्म के स्याद्वाद सिद्धान्त को जितना गलत समझा गया है उतना किसी अन्य सिद्धान्त को नहीं। यहाँ तक

कि शंकराचार्य भी इस दोष में से मुक्त नही हैं। उन्होंने भी इस सिद्धान्त के प्रति अन्याय किया। यह बात अल्पज्ञ पुरुष के लिये क्षम्य हो सकती थी किन्तु यदि मुझे कहने का अधिकार है तो मैं भारत के इस महान् विद्वान् के लिये तो अक्षम्य ही कहूँगा, यद्यपि मैं इस महर्षि को अतीव आदर की दृष्टि से देखता हूँ। ऐसा जान पड़ता है कि उन्होंने इस धर्म के दर्शन शास्त्र के मूल ग्रन्थों के अध्ययन करने की परवाह नहीं की।"

प्रयाग विश्वविद्यालय के प्राध्यापक श्री गगानाथजी झा ने भी इस सम्बन्ध में यही विचार व्यक्त किये हैं।

प्रोफेसर आनन्दशंकर बाबूभाई ध्रुव स्याद्वाद के सम्बन्ध में लिखते हैं:—

"स्याद्वाद को कितने ही लोग संशयवाद कहते हैं, इसे मैं नही मानता। स्याद्वाद संशयवाद नही है किन्तु वह एक दृष्टि बिन्दु हमको उपलब्ध करा देता है—विश्व का किस रीति से हमें अवलोकन करना चाहिये, यह हमें सिखाता है। यह निश्चित है कि विविध दृष्टिबिन्दुओं द्वारा निरीक्षण किये बिना कोई भी वस्तु सम्पूर्ण स्वरूप में आ नहीं सकती। (अतः) स्याद्वाद पर आक्षेप करना अनुचित है।"

जैनधर्म के मूल सिद्धान्त

पूर्व में यह कथन किया जा चुका है—कि चराचर पदार्थों से परिपूर्ण यह जगत अनादि अनन्त है। स्वाभाविक व वैभाविक अनेक परिवर्तनों के होते हुवे भी यह कभी समूल नष्ट नही होता। न तो यह जगत कभी किसी के द्वारा बनाया गया था और न कभी इसका अन्त ही होगा। इसमें जड़ और चेतन दो प्रकार के द्रव्य हैं—जिनमे अनेक प्रकार की अपनी-अपनी अगणित विशेषताएँ (गुण) हैं और वे सभी द्रव्य नित्य होते हुवे भी परिणमनशील हैं। उनमे प्रतिक्षण सदृश (समान) या असमान परिवर्तन भी होता रहता है, जिसे उत्पाद और व्यय कहा जाता है। परमात्मा और आत्मा इस भाँति चेतन तत्त्व दो विभागों मे बँटा हुआ है। संसार में जो जन्म-मरण करती हुई शारीरिक और मानसिक सब प्रकार के कष्टों को उठाया करती हैं, उनमें चाहे देवों का राजा इन्द्र हो या मनुष्यों का इन्द्र-चक्रवर्ती-सब ही किसी न किसी प्रकार दुःख और आकुलता का अनुभव करते हैं और इस भाँति सांसारिक सम्पूर्ण प्राणी दुखी तथा परतन्त्र हैं। सांसारिक प्राणियों को, जो कि भ्रमवश अचेतन या अपने से भिन्न चेतन पदार्थों के साथ भोगोपभोग कर सुखी बनने के स्वप्न देखा करते हैं, कर्म बन्धन लगा हुआ है, और इस कर्म बन्धन के आधीन ये सब दुःख उठाया करते हैं। कर्म एक अचेतन द्रव्य के परमाणु हैं, जिसे पुद्गल या मेटर (Matter) कहा जाता है। इन अचेतन परमाणुओं मे आत्मा के विकार भावों (रागद्वेषादि) के द्वारा आत्मा के साथ बँधकर सांसारिक

दुःख-सुखादि अनुभव कराने की शक्ति प्रकट हो जाती है और ये अचेतन मद्य (शराब) संखिया आदि चीजों की भाँति समय-समय पर उदय में आकर आत्मा को प्रभावित करते रहते हैं। इस भाँति सांसारिक आत्माएँ अपने-अपने भावों और कर्मों के द्वारा स्वयं ही सुख-दुख का अनुभव करती रहती हैं, इसमें किसी दूसरी शक्ति का कोई हाथ नहीं। दूसरे शब्दों मे प्रत्येक आत्मा अपने भाग्य का स्वयं ही निर्माण करती है और उसका फल भी उसे स्वयं (कर्मों के परिपाक काल आने पर) मिलता रहता है। ईश्वर या परमात्मा इस सम्बन्ध में कुछ नहीं करता।

मोहादि आत्म शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर जो नवीन कर्मों का बंध नही करता एवं पुरातन कर्मो को तपश्चरण द्वारा अपने से पृथक् करता है, वह अरहंत परमात्मा बन जाता है, फिर उसको जन्म, मरण, रोग, शोक आदि व्याधियाँ नहीं सताती और न उसमे अज्ञानता आदि दोष ही रहने पाते। उसकी सम्पूर्ण इच्छाओं का जो कि मोह से पैदा होती हैं—अभाव हो जाता है और वह सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, कृतकृत्य, समदर्शी अर्थात् वीतराग बन जाता है। आयु कर्म के शेष रहने तक वह सशरीर या साकार परमात्मा के रूप में भूमण्डल पर भूली-भटकी ससारी आत्माओ को धर्म का सत्य मार्ग बतलाता है और अंत में शरीर से सर्वदा के लिये सम्बन्ध विच्छेद कर निराकार सिद्ध परमात्मा बन जाता है। साकार व निराकार दोनों अवस्थाओं में परमात्मा अपने स्वरूप में मग्न रहता है। प्रत्येक आत्मा स्वभावतः अनन्त ज्ञान दर्शन, आनन्द एवं शक्ति का

पुंज है। गुण (ज्ञान दर्शन आदि) और गुणी (आत्मा) में भेद दृष्टि से नाम मात्र का भेद है जो कि गुण-गुणी आदि का कथन कर दूसरों को आत्मा का लक्षण समझने के लिये करना पड़ता है। वास्तव में गुण को छोड़कर गुणी और गुणी को छोड़कर गुण कोई स्वतन्त्र वस्तु नहीं। आत्मा के जो ज्ञान, दर्शन, सुख आदि स्वाभाविक गुण संसार दशा में विकार-मय अवस्था को प्राप्त हो रहे थे वे विकार के कारण राग, द्वेष, मोह आदि भाव कर्मों और ज्ञानावरण आदि पुद्गल परमाणु रूप द्रव्य कर्मों के दूर हो जाने पर शुद्ध दशा को प्राप्त हो जाते हैं। यह परमात्मपद शुद्ध दशा की प्राप्ति ही मानव जीवन का चरम लक्ष्य और शाश्वत सुख का साधन है।

परमात्मा न तो किसी से राग करता है न द्वेष। अपने अनन्त आनन्द का उपभोग करता रहकर कभी संसार के जन्म मरण रूप संकट में नहीं पड़ता। जिस भाँति बीज वृक्ष की सन्तान अनादि होते हुवे भी बीज के एक बार भी अग्नि में भून लेने पर फिर उससे कोई वृक्ष पैदा नहीं होता या धान (छिलका सहित चावल) से पौधा और पौधे से धान अनादिकाल से उत्पन्न होते रहने पर भी चावल से उसका छिलका एक बार भी भिन्न कर देने पर शुद्ध चांवल के द्वारा फिर पौधा उत्पन्न नहीं होता, उसी प्रकार आत्मा के साथ अनादि काल से लगा हुआ कर्म मल जब आत्मध्यान से पृथक् कर दिया जाता है तब फिर कभी भी उसको जन्म-मरण के कुचक्र में पड़कर संसार परिभ्रमण करने की सम्भावना नहीं रहती। संसार में पुनः परिभ्रमण करने की सम्भावना तभी हो सकती थी जबकि उसमें

रागद्वेषादि विकार उत्पन्न होते और उनसे नवीन कर्म का बंध होकर उसका फल भुगतना पड़ता; किन्तु मुक्त जीवों में, जो कि आत्मा के अनन्त आनन्द का उपभोग कर रहे हैं, और राग, द्वेष करने से जन्म मरण रूप संसार में फँसकर घोर संकटों का सामना करना पड़ता है, इस तथ्य को भलीभाँति जानते हैं, अकारण राग द्वेष कदापि उत्पन्न नहीं हो सकता।

संसार में जो जीवों की सुख दुःखमय अवस्थाएँ दृष्टि-गोचर हो रही है वे केवल भ्रममात्र नहीं है, प्रत्युत् वास्तविक हैं। यदि ये अवस्थाएं अवास्तविक होती तो इनका गगन कुसुम (आकाश के फूल) के समान अनुभव भी न होता, तथा सब जीव परमात्म अवस्थामय होते; किन्तु ऐसा नहीं है। साथ ही यह भी निश्चित है कि संसार में दिखने वाली जीव की ये नाना अवस्थाएँ स्वाभाविक नहीं, वैभाविक हैं—अर्थात् विकार से उत्पन्न होती है। आत्मा जब अपने पुरुषार्थ और तपश्चरण द्वारा कर्म कलंक नष्ट कर देता है तब अपनी स्वाभाविक शुद्ध दशा को प्राप्त होकर परमात्मा बन जाता है। इसलिये जब तक सांसारिक आत्माएँ परमात्मा नहीं बन जाती और सुखी होने की इच्छा रखती है तब तक उन्हें परमात्मा को आदर्श मानकर उनके गुणों की पूजा, स्तवन आदि कर उपासना करना चाहिये तथा उसके गुणों का चिन्तन कर अपनी आत्मा के स्वरूप का अनुभव करने का प्रयत्न करना चाहिये। परमात्मा राग द्वेषादि रहित हैं, इसलिये वह किसी के स्तुति करने पर प्रसन्न और निंदा करने से अप्रसन्न नहीं होता

फिर भी अपने भावों की शुद्धि, भ्रमनिवारण, आत्मानुभवन एवं अपने आदर्श पर श्रद्धा और भक्ति का प्रकटीकरण आदि के लिये परमात्मा की उपासना [और पूजा करना उचित और युक्तिसंगत है। जब साकार परमात्मा के साक्षात् दर्शन न मिलें तो उनकी मूर्ति (प्रतिमा) को प्रतिष्ठित कर, जिस की मुखमुद्रा पर वीतरागता झलक रही हो, परमात्मा की उपासना करना चाहिये, क्योंकि उनकी मूर्ति के दर्शन से भी मूक उपदेश पाकर आत्म विकास का सम्पूर्ण लाभ लिया जा सकता है और अपने भावों में शान्ति एवं वीतरागता की प्राप्ति के अतिरिक्त सम्यग्दर्शन (आत्मानुभवन की प्राप्ति भी हो सकती है।

आत्माओं की संख्या अनन्तानन्त है। यदि उनकी सांसारिक अवस्थाओं पर विचार किया जाय तो वे मनुष्य, देव, नरक, तिर्यंच (पशुपक्षी) चार प्रकार की हैं और इनमें भी अनेक भेद हैं। संसार में चौरासी लाख योनियों द्वारा जीव जन्म-मरण करते रहते है। सम्पूर्ण योनियों में मनुष्य योनि ही श्रेष्ठ योनि है, क्योंकि इसको पाकर आत्मा अपने भले-बुरे का विचार कर सकता है, साथ ही तपश्चरण एवं आत्म-साधना द्वारा मुक्ति भी प्राप्त कर सकता है। मनुष्य होकर भी जो अपने जीवन को खाने-पीने, मौज उड़ाने में ही गँवा देता है और आत्मा की भलाई-बुराई पर तनिक भी विचार नहीं करता, न अपनी उन्नति के लिये मानवोचित धर्म का पालन करता है, वह मनुष्य नहीं, पशु है, बल्कि उससे भी बुरा है। मनुष्यों को चाहिये कि वे अपनी आत्मा एवं धर्म के

स्वरूप को भली भांति समझकर कम से कम निम्नलिखित नियमों के पालन करन की ओर अवश्य ध्यान दें:—

(१) जिन महान् आत्माओं ने अपने को कर्म व संसार के बंधन से मुक्त कर लिया है और मुक्ति का सच्चा मार्ग दिखाया है तथा जो वीतराग व सर्वज्ञ हैं, उनकी आत्म जागृति के लिये उपासना (पूजा) करना और उनके गुणों का बारम्वार चिंतन-मनन कर सम्यग्दृष्टि बन कर उन जैसा बनने का प्रयत्न करना।

(२) सांसारिक-विषय भोगों की चाह से रहित एवं ज्ञान, ध्यान तप में अनुरक्त मुक्ति के प्रयत्न में लगे हुवे सच्चे तपस्वियों का आदर व उनकी संगति करना व उन जैसा बनकर आत्मकल्याण करने की भावना रखना।

(३) सन्मार्ग पर ले जाने वाले आगम (शास्त्रों) का स्वाध्याय करना, कराना और ज्ञान की वृद्धि करना।

(४) अपने चंचल मन और इन्द्रियों पर काबू रखना और इनके दास न बनकर संयम का पालन करना तथा प्रत्येक प्राणी की रक्षा का प्रत्येक कार्य करते समय ध्यान रखना एवं प्रयत्न करना।

(५) प्रति दिन प्रातः सायं एकांत में बैठकर आत्म-स्वरूपका चिन्तन करना और परमात्मा का ध्यान करते हुए वैसे बनने की भावना रखना एवं अपने अच्छे, बुरे कार्यों की समा-लोचना कर पापों से बचने का प्रयत्न करना।

(६) न्याय पूर्वक धन का उपार्जन करना, दूसरों का जिस प्रकार भी हो, भला करना, भोजन, वस्त्र, औषधि शास्त्र आदि

बिना बदले की इच्छा के, पात्रानुसार वितरण करना, दूसरों को दुःख व संकट से निकालना व ज्ञानवृद्धि के साधन जुटाना।

इन कर्तव्यों का पालन करने के अतिरिक्त आत्मोन्नति में बाधक, पतन की ओर ले जाने वाले दुर्व्यसनों एवं कुसंगति से शक्ति भर बचने का प्रयत्न और उनके त्याग की प्रतिज्ञा करना भी आवश्यक है, क्योंकि इन दुर्व्यसनों का एक बार भी चसका लग जाने पर फिर उनका छूटना कठिन हो जाता है, जैसे जुआ सट्टा खेलना, मांस खाना, शराब पीना, शिकार खेलना, वेश्या और पर स्त्री सेवन करना, चोरी करना आदि। असत्य संभाषण, परनिन्दा, अभिमान, छल, कपट, विश्वास-घात, अन्याय एवं अत्याचार आदि कार्यों को तो भूलकर भी न करना चाहिये। प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपने भाग्य का स्वयं ही निर्माता है, इसमें ईश्वर या अन्य किसी दैवी शक्ति का कोई हाथ नहीं है अतः अपना सुधार हमें अपने आप ही करना पड़ेगा, इस बात का निरन्तर ध्यान रखते हुए हर एक को प्रति दिन और प्रति क्षण आत्मनिरीक्षण करते रहना चाहिये—कि मैं कोई ऐसा विचार या कार्य तो नहीं कर रहा हूँ जो मुझे पतन की ओर ले जाने वाला है। अपने चरित्र की रक्षा एवं देख रेख मनुष्य अपने आप ही भली प्रकार कर सकता है। इसके अतिरिक्त दूसरों के दोषो पर दृष्टि न देकर गुणो पर ही दृष्टि रखना चाहिये। संसार मे शांति रखने की जिम्मेदारी, एक मनुष्य के नाते, प्रत्येक व्यक्ति पर लदी हुई है, और इस जिम्मे-दारी को पूरा करना भी प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है। इसलिये प्रति दिन प्रार्थना करना चाहिये कि:—

सत्वेषु मैत्रीं गुणिषु प्रमोद,
क्लिष्टेषु जीवषु कृपापरत्वम्
माध्यस्थ भावं विपरीत वृत्तौ,
सदा ममात्मा विदधातु देव !

भगवन् ! संसार के संपूर्ण प्राणियों से मित्रता, गुणी पुरुषों को देखकर प्रसन्नता, दुखी जीवों पर दयार्द्रता (करुणा) और अकारण द्वेष करने वालों या दुष्टों पर माध्यस्थ भाव (न राग न द्वेष) मेरी आत्मा निरन्तर धारण करे। ऐसी पवित्र भावनाओं के रखने और तदनुकूल आचरण करने से ही आत्म शांति एवं विश्व शांति का विशाल साम्राज्य स्थापित हो सकता है। अतः प्रत्येक व्यक्ति का यह परम कर्तव्य होना चाहिये कि वह जीवन की उपरोक्त चर्या और भावनाओं को आत्मसात् करने का पूर्ण प्रयत्न करें।



जैनधर्म की उदारता

तुच्छ से तुच्छ प्राणी भी अपनी आत्मा को उतना ही प्यार करता है जितना कि एक मनुष्य। फिर किसी को क्या अधिकार है कि वह अपने से कमजोर प्राणियों को जानबूझ कर या असावधानी से सतावे या पैरा तले रोंदला चले? इसके सिवाय दूध मक्खन, घी बादाम, अनाज, मेवा और फल जैसे पौष्टिक, पवित्र, सुस्वादु तथा सात्विक पदार्थों के होते हुए गाय, बकरा, हरिण मुर्गे, मछली व कबूतर जैसे दीन तथा मूक पशुओं को मारकाट कर गले उतार जाना कौनसी इंसानियत या धर्म है? संभव है यह तर्क किन्ही व्यक्तियों को कुछ बुरा, लगे, किन्तु जब वे निर्दयता-पूर्वक पशु-पक्षियों के गले पर छुरियाँ चलाते है तब उन बेचारों के ऊपर क्या बीतती होगी? क्या ये यह समझते है कि जिनके गलों पर छुरियाँ चलाई जा रही है, वे पत्थर के बने हुवे हैं? यदि नही, तो क्या थोड़े दिनों के लिये स्वयं बलवान् बन जाने पर दूसरों को कुचलना और मारकाट कर गले उतार जाना अन्याय नही है? और फिर जो दीन हीन प्राणी मानव से दया, क्षमा और सुरक्षा की आशा रखकर स्नेह एवं करुण पूर्ण व्यवहार करने के लिये हमारे मुँह की ओर टुकुर टुकुर देखते रहते हों, उनके ऊपर दया न कर छुरियाँ चलाना तो अन्याय ही नही, भीषण अत्याचार और गहराई से सोचें तो विश्वासघात भी है, जो हमें मानव कहने के अधिकार को भी चुनौती देता है।

इस संबंध में कुछ लोगों का यह कथन कि ईश्वर ने ये पशु पक्षी हमारे खाने पीने के लिये ही बनाए है, बड़ी ही धूर्तता और स्वार्थ पूर्ण है जब कि ईश्वर ने कभी भी और कही भी यह घोषणा नही की और न धर्म शास्त्रों में ही पशु पक्षियों को मारकाट कर गले उतारने की बात लिखी है। प्रत्युत् प्रावः सभी जीवों पर दया करने और उनकी रक्षा करने व उन्हे किसी प्रकार भी न सताने की ही शिक्षा व प्रेरणा दी है। यदि किसी ने दीन हीन पशुओं के मारकाट करने का उपदेश दिया हो तो वह किसी प्रकार भी धर्म व न्याय सोति नहीं हो सकता और न वह उपदेश ही धर्म नहीं कहला सकता। जैन धर्म जोर देकर कहता है कि कि ए मानव ! तुझे जो अन्य प्राणियों से अधिक बुद्धि और शक्ति प्राप्त हुई है उसका सदुपयोग करना सीख तथा अपने ही समान दूसरों के प्राणों, हितों और स्वतंत्रता का संरक्षण कर। यदि ऐसा न कर सके तो कम से कम उनका भक्षक तो न बन। इस भाँति तीर्थंकरों ने प्राणीमात्र के प्रति न्यायोचित समता, स्वतंत्रता और उदारता का व्यवहार करने की प्रेरणा करत हुए मनुष्य मात्र को चाहे वह कोई भी व कितना ही पतित एवं दीनावस्था में क्यों न हो, अहिंसा धर्म की शीतल छाया में बिठाकर पावन बनाने एवं आत्मा को परमात्मा पद पर बिठाने का दावा किया है। वस्तुत: धर्म यदि निर्बलों का संरक्षक और पतितोद्धारक तथा दुखी जगत के जीवों का कल्याणकर्ता न हो फिर उसकी महत्ता और आवश्यकता ही क्या रह जाती है। और वह धर्म भी कैसे कहला सकता है ?

कुछ व्यक्ति कहीं-कहीं और कभी-कभी धर्म पर केवल अपना या अमुक जाति अथवा वर्ग का ही एकाधिकार जताकर अन्य जनों को धर्मशास्त्रों की पवित्र वाणी को सुनने या धर्मानुकूल आचरण करने अथवा देव दर्शनादि के अधिकारों से वंचित करने का भी प्रयत्न करते देखे जाते हैं। संभवत: उन्हें यह समझ नहीं है कि धर्म रूपी गंगा में स्नान करके अपने जीवन को पवित्र बनाने का प्राणिमात्र को अधिकार है। अत: धर्मान्धता और संकुचित मनोवृत्ति का परित्याग कर धर्मात्माओं का यह पवित्र कर्तव्य है कि वे किसी को धर्म साधना में बाधक न बनें एवं जहाँ तक संभव हो उनकी साधना में सहायक बनकर सहयोग ही प्रदान करें।

आगमानुसार एक मेंढक ने भी भक्ति भाव से भगवत्पूजन के संकल्प मात्र से स्वर्ग प्राप्त किया है, और आचार्यों ने हाथी, बंदर, सिंह आदि जानवरों को भी धर्म एवं सदाचार का पाठ पढ़ाकर उन्हें पशु से देवता बनाया है। फिर मनुष्तों की तो बात ही क्या है? धर्मात्मा चांडाल भी अहिंसा व्रत का पालन कर मनुष्यों से ही नही, देवताओं से भी पूज्य हुवा है, वेश्यावृत्ति का परित्याग कर धर्माचरण द्वारा वेश्याएँ स्वर्ग गयी हैं, और शिकारी, व्यभिचारी व मांसभक्षीजन भी अपने पाप कार्यों को त्याग कर स्वर्ग व मोक्ष के सुखों को प्राप्त हुए हैं। अत: सिद्ध है कि किसी भी जाति, वर्ण, वर्ग या व्यक्ति को धर्म जैसी पवित्र वस्तु के सेवन से वंचित नहीं किया जा सकता। जाति कोई भी बुरी नहीं। उसकी उच्चता और नीचता का आधार गुण है। यदि एक चांडाल भी धर्मानुकूल आचरण और व्रतों का पालन

करने के साथ-साथ सम्यग्दर्शन और ज्ञान से युक्त है तो निश्चय से वह देवता के समान स्तुत्य है; किन्तु एक कुलीन पुरुष भी यदि हिंसक, बेईमान, मांसभक्षी, व्यभिचारी, शराबी व दुष्ट है तो निःसंदेह वह पतित और निंदनीय कहलाता है।

मनुष्य जाति में जो वृत्ति और रंग के भेद से अथवा देश या योनिभेद से भेद दिखाई देता है वह कुछ आपस में घृणा करने या किसी को दबाने और सताने के लिये नहीं है। इतने मात्र से जो परस्पर में प्रेम और मित्रतापूर्ण व्यवहार की जगह घृणा और द्वेष का व्यवहार करते है, सचमुच वे मानव जाति के कलंक है और मानवता उनसे कोसों दूर है।

जैनदर्शन और ईश्वरवाद

जैनदर्शन ने परमात्मवाद, अध्यात्मवाद, कर्म और परलोकवाद, पापपुण्य आदि सिद्धान्तो का स्वीकारात्मक प्रतिपादन कर वस्तु की जो वैज्ञानिक और विशद रूप मे व्याख्या की है वह सचमुच महत्वपूर्ण है और इसीलिये यह एक आस्तिक दर्शन है, तो भी कुछ लोग इस पर नास्तिकता का आरोप लगाते रहते हैं और न जाने कब से लगाते आ रहे हैं। इसका मुख्य कारण वे जैनदर्शन का अकर्तृत्ववाद अर्थात् ईश्वर को जगत-कर्ता न मानना ही दर्शाते हैं। इसलिये जैनदर्शन, ईश्वर को सृष्टिकर्ता क्यो नहीं मानता, इस संबंध में पाठकों की जानकारी के लिये यहाँ पर तर्क, विज्ञान व प्रमाण संगत थोड़े से विचार उपस्थित करना अनुचित न होगा। जैनदर्शन की

मान्यता है कि ईश्वर को जगतकर्ता मानने मे सिवाय कल्पना के कोई भी प्रमाण नही है, जिसके बल पर उसे सृष्टिकर्त्ता माना जा सके; प्रत्युत् पदार्थों के स्वभाव और उनकी परम्पराएँ यह सिद्ध करती हैं कि यह सब कुछ अनादि अनन्त है। यद्यपि पदार्थों की अवस्थाओ मे उपादान और निमित्त कारणों से कभी समान और कभी असमान परिवर्तन होते रहते हैं; किन्तु यह कभी भी संभव नही कि सब पदार्थ चाहे कैसा भी निमित्त हो, समूल नष्ट हो जाये या कभी बिना अपने उपादान कारण के नवीन उत्पन्न हो जावें। यदि ईश्वर को ही सब का उपादान स्वीकार किया जायेगा तो उससे सब पदार्थ सचेतन ही पैदा हो सकेंगे न कि असख्य अचेतन पदार्थ, जबकि उपादान के अनुरूप ही कार्यो की उत्पत्ति होती है। यदि उनका ईश्वर के सिवाय कोई अन्य उपादान माना जायेगा तो उसकी उत्पत्ति कैसे हुई? और फिर जिससे उसकी उत्पत्ति हुई उसकी किससे हुई? इस प्रकार प्रश्न उठते ही चले जायेंगे। अन्त में जिसे भी ध्रुव और अनुत्पन्न माना जायेगा उसे नित्य स्वीकार करना पड़ेगा, फिर जगत को ही नित्य स्वीकार करने में कौनसी बाधा है? इसके अतिरिक्त न तो ईश्वर को कभी किसी ने जगत की रचना करते देखा है और न बीज, वृक्ष या गर्भज मनुष्यादि प्राणियों की संतान परम्पराएँ ईश्वर को सृष्टि का कर्ता सिद्ध करती हैं, क्योंकि सृष्टि के प्रारंभ में पुरुष और स्त्री के संयोग बिना पुरुषों की उत्पत्ति या बीज बिना वृक्षों की उत्पत्ति का होना और वह भी निराकार व निर्विकार ईश्वर से नितान्त ही असंभव है।

ईश्वर को जगतकर्ता मानने में और भी कई बाधाएँ आकर उपस्थित होती हैं। कर्तावादी ईश्वर को निराकार, निर्विकार, पूर्ण सुखी, सच्चिदानन्द स्वरूप, पूर्ण ज्ञाता, दृष्टा, नित्य, व्यापक और सर्व शक्तिसंपन्न एक स्वर से स्वीकार करते हैं। यही नही, उसे परमदयालु अशरणशरण, और न्यायकर्त्ता भी माना जाता है। उक्त गुण विशिष्ट परमात्मा के एक एक गुण पर विचार करने मात्र से ईश कर्तृत्व की कल्पना शतत: विदीर्ण हो जाती है। सर्वप्रथम निराकार ईश्वर मे साकार जगत की रचना का होना ही असभव है; क्योंकि ईश्वर को सर्व व्यापक और निर्विकार भी माना जाता है, अत: इसमे किसी प्रकार की क्रिया और विकार को कैसे स्वीकार किया जायेगा? जैसा कि जगत जैसी वस्तु की रचना करने के लिये उनका होना अनिवार्य है। यदि क्रिया और विकार का होना उसमे स्वीकार किया जाय तो ईश्वर की सर्वव्यापकता और निर्विकारता ही समूल नष्ट हो जायेगी। यदि कहो कि बिना क्रिया और विकार के ही ईश्वर सर्वशक्तिमत्ता द्वारा जगत की रचना करता है तो यह भी ठीक नही। ऐसा मानने पर इच्छा मात्र से जगत की उत्पत्ति माननी पडेगी, जिसका होना असंभव है। यदि इस असंभव कल्पना को भी थोड़ी देर के लिये मान लिया जाय तो यह प्रश्न उपस्थित होता है कि निर्विकार ईश्वर में इच्छा पैदा ही क्यों हुई? अज्ञानी, मोही, अकृतकृत्य असंतुष्ट दुखी व अपूर्णशक्ति संपन्न प्राणियों में ही दुख या आकुलता दूर करने के लिये इच्छा पैदा हुआ करती है; किन्तु ईश्वर जबकि निर्मोह, कृतकृत्य, पूर्ण सुखी और वस्तुतत्व का

ज्ञाता व सर्व शक्तिसंपन्न है तो उसके किसी काम की इच्छा पैदा हो ही नहीं सकती। यदि फिर भी इच्छा की उत्पत्ति ईश्वर के मानी जायेगी तो उपर्युक्त विशेषणों द्वारा उसका गुणगान करने से क्या लाभ ?

यदि कहा जाय कि उपरोक्त गुणों के होते हुवे भी उसके कार्य करने की भी इच्छा होती है जिसे वह जगत की रचना कर पूर्ण करता है। थोडी देर के लिये इस कथन को स्वीकार कर लेने पर जो बाधाएँ आकार उपस्थित होती हैं उनका कुछ भी सन्तोषप्रद उत्तर नहीं मिल पाता।

सर्व शक्तिमान् दयालु परमात्मा ने यदि यह दुनियां बनाई होती तो इसमें दीन-दुखी प्राणियों का अस्तित्व एवं असंख्य अत्याचार, पाप, पाखंड, वासना, व्यभिचार, हिंसा आदि के नारकीय दृश्य कभी भी दिखाई नहीं देते। "ईश्वर की मर्जी के बिना एक पत्ता भी नहीं हिल सकता", इस सिद्धान्त को बिना किसी तर्क और प्रमाण के गले उतार लेने पर प्रश्वन उठता है कि तो क्या दुनियां में होने वाले सपूर्ण पाप और अत्याचारादि भी ईश्वरेच्छा से ही हो रहे है ? यदि हां, तब तो पापकर्ता सांसारिक प्राणी पूर्ण निर्दोष और ईश्वर ही पूर्ण दोषी स्वयसिद्ध हो जाता है ? तब पाप जिस ईश्वर की मर्जी से होते है, वह चैन की बंशी क्यों बजाता है ? तथा फिर हमें दया, क्षमा, परोपकार आदि के करने और हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील आदि के न करने के उपदेश देने व सुनने की आवश्यकता ही क्या है; जब कि ईश्वरेच्छा से ही हम सब कुछ करते हैं और हमें कुछ भी स्वतंत्रता नहीं है ? यदि कहा जाय

कि कर्म करने मे प्राणी स्वतत्र है; किन्तु उनका फल उन्हें ईश्वर द्वारा ही प्राप्त होता है : तब तो ईश्वर की मर्जी के बिना पत्ता भी नहीं हिलता, इस सिद्धान्त पर स्वय ही कुठाराघात हो गया, क्योकि उसकी मर्जी के बिना प्राणी कर्म करने में स्वतत्र है। और यदि ऐसा है तो प्राणियों को कर्म फल भोगना भी उन्ही के आधीन मानने में क्या आपत्ति है? जो जैसे कर्म करता है उनका फल उन्हे कर्म ही समयानुसार दिया करते है। जैसे कि खाया हुआ भोजन अपने आप ही पेट मे खून, मांस, वीर्य आदि रूप बनता और प्राकृतिक रूप से बल, रोग या कामादिक विकारो को पैदा करता है, वैसे ही कर्म बंधन भी समयानुसार फल देता है।

इसके सिवाय जबकि ईश्वर सर्व शक्तिमान, घट-घट व्यापक, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी और आदर्श न्यायकर्ता माना जाता है तो उसका क्या यह कर्तव्य नही है कि इन अज्ञ, किन्तु अपनी ही सन्तान समस्त सांसारिक प्राणियों को पाप करने ही न दे। एक अल्पज्ञ, स्वल्प शक्ति सम्पन्न पिता भी जब अपनी सन्तान को जहाँ तक उससे हो सकता है, ऐसी शिक्षा देता है जो उसे कुमार्ग से हटाकर सन्मार्ग मे लगावे और स्वयं भी अपनी शक्त्यनुसार उसके हित मे ही कार्य करता रहता है। तो क्या परमदयालु, आदर्श, न्यायशील, सर्वशक्तिमान, परम पिता ईश्वर का यह कर्तव्य नही है कि वह अपनी सर्व शक्ति लगाकर भी अपनी सन्तानो को पाप करने ही न दे? क्या यही ईश्वरीय न्याय है कि रोकने की शक्ति रखते हुवे भी स्वेच्छापूर्वक अव्वल तो प्राणियों से हत्याकाण्ड, व्यभिचार, बलात्कार, अत्याचार आदि

भीषण कृत्यों को करवा लेना और फिर बेचारों को संकट के सागर में पटक कर अपनी सर्व शक्तिमत्ता दिखाना?

"महमूद गजनबी अपने प्रत्येक भारतीय आक्रमण के अवसर पर जो असंख्य निरीह भारतीय नर-नारियों का अति निर्दयतापूर्वक वधकर उनका धन, जन, सर्वस्व ले गया, उसमें उसका कुछ भी कसूर नहीं, क्योंकि उसने तो केवल ईश्वरीय व्यवस्थानुसार उन लोगो को अपने-अपने जन्मों के फल दिये (जबकि सुख, दुख आदि कर्म फलदाता ईश्वर हो)। यदि कहो कि वे नर-नारी कर्म-फल की दृष्टि से निर्दोष थे और ईश्वर के यहाँ से गजनबी को इस अत्याचार का दण्ड अवश्य मिलेगा, तो जगतपिता, परमदयालु, दीनबन्धु, अशरण शरण एवं सर्व शक्तिमान् घटघट व्यापी और न्यायशील ईश्वर की समक्ष मुबारक में:—

"Prevention is better than cure"

अर्थात् बीमार को आराम कर देने से तो यही अच्छा है कि बीमारी होने ही न दी जाय—यह उत्तम नीति क्यों न आई और उन दीन दुखियो की रक्षा का प्रबन्ध पहले से ही क्यों नहीं किया?"

—(श्री रजनीकान्त शास्त्री के लेख का एक अंश)

इन दोषों के अतिरिक्त यदि हम ईश्वर को कर्म फलदाता स्वीकार भी कर ले तो फिर प्रश्न उठता है कि सृष्टि की आदि में जो ईश्वर ने मनुष्यादि प्राणियों को उत्पन्न किया था उनका शरीर किस पूर्व जन्म के कर्म का फल था? यदि कहा जाय कि प्रलय के पूर्व की सृष्टि का, तो प्रलय किसलिये किया

गया ? प्रलय इसलिये किया माना जाता है कि दुनियाँ में जब पाप बहुत बढ जाते हैं और पापिष्ठ आत्माओं को सब सजाओं से बडी सजा ईश्वर देता है तो वह उनका सर्व नाश कर डालता है यानी प्रलय कर देता है। इस भाँति प्रलय कर देने पर जबकि सब प्राणियों को उनकी दुष्टता का फल मिल गया तब उनके और कौनसे कर्म शेष रह गये, जिनका फल फिर से शरीर प्रदान कर ईश्वर भुगतवाना चाहता है ? तथा दुष्टों के निग्रह के लिये प्रलय करने से तो दुष्टों को पैदा न करना ही उत्तम था। इस सब के अतिरिक्त दुष्टों का निग्रह और सज्जनों का पालन बिना राग, द्वेष किये नहीं हो सकता, जिनके करने से ईश्वर को भी फल भोगने का प्रसग आवेगा। फिर जबकि कोई पदार्थ बिना कर्ता के यदि पैदा नही होता तो ईश्वर भी एक पदार्थ है, उसे किसने पैदा किया ? यदि कहो कि वह स्वय सिद्ध है, तो यह चराचर जगत और उसके पदार्थ भी अनादि निधन स्वयं सिद्ध है--यही क्यों न मान लिया जाय ?

इस प्रकार ईश्वर को जगतकर्ता और कर्म फलदाता स्वीकार करने मे अनेक बाधाएँ और दोष आते है। साथ ही जगतकर्ता ईश्वर है, इस मान्यता का साधक सिवाय कल्पना के, कोई प्रमाण भी नहीं है। अतएव परमात्मा को ज्ञाता, दृष्टा, सच्चिदानन्दमयी, परमवीतराग स्वीकार करके भी जैनदर्शन उसे जगतकर्ता स्वीकार नहीं करता। (विज्ञान तो स्पष्टत: दुनियाँ और उसके पदार्थों को अनादि अनन्त स्वीकार करता है) जैनदर्शन की इस मान्यता में युक्तियाँ व प्रमाण पूर्णत: या उसके साथ हैं।

भगवद्भक्ति और मूर्तिपूजा

श्रद्धा का भक्ति के साथ अटूट सम्बन्ध है। जिस व्यक्ति में गुण होते हैं, मानवीय विवेक श्रद्धापूर्वक उसका स्वभाव से भक्त बन जाता है। फिर जिसे हम पवित्र समझते और अपना सन्मार्ग प्रदर्शक के रूप में महान् उपकारी भी मानते हों एवं उसी जैसा सुखी, पूर्ण व निर्दोष बनने की उत्कंठा भी हमारे अन्त:करण में घर किये हों तथा जो विश्व का चरम उत्कर्ष प्राप्त सर्वश्रेष्ठ आदर्श पुरुष हो, उसके प्रति हृदय में श्रद्धा के जागृत हो जाने पर भक्ति का स्रोत उमड़ पड़ना एवं भक्ति में प्रवाहित व्यक्ति द्वारा अपने प्रिय (इष्ट देव) की सेवा में उत्तम-उत्तम पदार्थों को रूचिपूर्वक समर्पण करना एवं गुणानुरागपूर्वक उसका गुणगान, नमस्कार, विनय आदि करना भी स्वाभाविक है। अतः परमात्मा को आदर्श मान उस पर श्रद्धा रखते हुए भक्ति करना भी मानवीय प्रकृति के पूर्ण अनुकूल एवं गुणा संवर्द्धक होने से आत्मोन्नति का एक साधन भी है।

यदि परमात्मा सृष्टि का निर्माता और सुख दुखादि कर्म फलों का विधाता नहीं है तो उसकी उपासना, भक्ति और स्तुति आदि करने की क्या आवश्कता है?

अथवा परमात्मा यदि वीतराग है—पूजक से राग और निन्दक से द्वेष नही करता या प्रसन्न और अप्रसन्न नहीं होता तो उसकी पूजन, दर्शन, भजन आदि से क्या लाभ? इन प्रश्नों का सक्षेप मे उत्तर देते हुए स्वामी समंत भद्र लिखते हैं:—

"नापूजयार्थ स्त्वयि वीतरागे न निंदया नाथ विवांत वैरे ।
तथापि ते पुण्य गुण स्मृतिर्नः पुनाति चित्तं दुरितांजनेभ्यः ।"
—बृहत्स्वयंभूस्तोत्र

अर्थात् हे भगवन् आपको न तो हमारी पूजा करने से कोई प्रयोजन है; क्योंकि आप वीतराग हैं और न आपको निन्दा से से ही कोई प्रयोजन है; क्योंकि आपने वैरभाव को समूल नष्ट कर दिया है। हम श्रद्धा भक्तिपूर्वक जो आपके गुणों का स्मरण करते हैं वह इसलिये कि इससे हमारा पाप वासनाओं एवं मोह व राग द्वेषादि विकारों में मलिन मन पवित्र हो जाता है।"

इसी प्रकार मोक्षशास्त्र के प्रारम्भ में मगलाचरण करते हुए आचार्य लिखते है—

मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभृताम् ।
ज्ञातारं विश्वतत्वाना वन्दे तद्गुण लब्धये ।।

अर्थात् मुक्ति पथ प्रदर्शक, कर्मोच्छेदक एवं विश्वतत्वज्ञायक महापुरुष को मैं उन्ही जैसे गुणों की प्राप्ति के लिये वंदना करता हूँ। भगवद्भक्ति या उपासना का तात्विक रहस्य एवं उद्देश्य क्या है? इस मगलाचरण के भाव द्वारा सहज ही समझ में आ जाता है। वीतराग भगवान की भक्ति की महिमा का प्रतिपादन करते हुए श्री मानतुंग आचार्य कहते हैं, ! आस्तां तवस्तवनमस्तसमस्त दोषं त्वत्संकथापि जगतां दुरितानि हंति। दूरे सहस्रकिरणः कुरुते प्रभैव पद्माकरेषु जलजानि विकास भांजि। भक्तामर स्तवन अर्थात् हे भगवन ! आपके गुणों की

स्तुति हमारे मलिन हृदय को दोषों और पापों से दूर कर तत्काल पवित्र बना देती है। जिस प्रकार सूर्य के दूर रहते हुये भी हजारों मील दूर रहने वाले कमल उसकी प्रभा मात्र से प्रफुल्लित हो जाते हैं एवं रात्रि का भयानक अंधकार देखते-देखते विलीन हो जाता है, उसी प्रकार भव्य पुरुषों के भक्तिभाव से पूर्ण हृदय कमल भगवान् के दर्शन तो दूर, नाम मात्र से ही प्रफुल्लित हो जाते हैं। इससे उन्हें उस समय जो अनुपम आनन्द, अपूर्व शांति एवं संतोष प्राप्त होता है, वह कथन नहीं, अनुभव करने की वस्तु है। उस आनन्दामृत का पान-तार्किक नहीं, भक्त जन ही कर सकते हैं।

अपने आदर्श गुणों में ध्यानमग्न हो जाने पर भावों में पवित्रता एवं वीतरागता का सचार होने से पापकर्म की शृंखलाये भी स्वयमेव ढीली पड़ जाती हैं। इसके सिवाय परमात्मा के गुणों का चिन्तन और स्तवन करने से आत्मा का उन गुणों की प्राप्ति की ओर अग्रसर होना तथा उस समय किन्हीं अंशों में उन्हें आत्मसात् कर लेना भी सुगम हो जाता है। उनके गुणों का बारम्बार चिंतन करने से आत्मदर्शन और अनुभवन जैसे दुर्लभ कार्य भी सरलता से संपन्न हो जाते हैं। जब परमात्मा की भक्ति में मग्न पुरुष उसके गुणो का चिन्तन करते-करते अपनी ओर भी सरसरी नजर डालता है तो उसे उसी क्षण अपनी वास्तविकता (असलियत) का ज्ञान हुवे बिना नहीं रहता। वह तुरन्त समझ जाता है कि जिस महान् पुरुष की मैं उपासना कर रहा हूँ उसमें और मुझमें चेतन तत्व, जोकि अनन्त ज्ञान, दर्शन और शक्तियो का पुंज है, एक समान ही है। अन्तर केवल

यह है कि आत्म श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र के द्वारा इन्होंने अपनी छिपी हुई (अव्यक्त) शक्तियो को प्रकट कर लिया है और मेरी वे शक्तियां मोहादि कर्मों के आवरण से ढकी हुई है । कर्मों का आवरण दूर होने पर मे भी इन्ही जैसा बन सकता हूँ—भक्त से भगवान् बन सकता हूँ। आत्मदर्शन के लिये परमात्मदर्शन सचमुच दर्पण (आइने) का कार्य करता है । जो वीतराग और उनकी वीतरागता का एकाग्रता से चितन व अध्ययन करते हैं उन्हें आत्मदर्शन हो जाना कोई कठिन कार्य नहीं । यह आत्म दर्शन ही धर्म का मूल है, किन्तु जिस प्रकार समुद्र के अतल तल (गर्भ) में भरे हुवे बहुमूल्य रत्न ऊपर-ऊपर डुबकियां लगाने या उतराने वाले व्यक्तियो के हाथ नही लगते उसी प्रकार भावपूर्वक तन्मय होकर भगवद्भक्ति मे मग्न हुवे बिना और वीतरागता का अध्यनन किये बिना उस चीज़ की प्राप्ति नहीं हो सकती जिसका कि ऊपर कथन किया जा चुका है।

गुणानुरागपूर्वक गुणो का चिन्तन व उपासना करने से गुणो की ओर दोषो पर रुचिपूर्वक उनका विचार करने से दोषो की वृद्धि होना स्वाभाविक है। फिर परमात्मा के गुणो का जो कि मोहादि आत्म-शत्रुओ पर वीरतापूर्वक विजय प्राप्त कर आदर्श बन चुका है, चिन्तन करके हम लोग भी, जो कि राग, द्वेष मोहादिक के कारण अपनी वास्तविकता को भूले हुए हैं और दुर्भावनाओ एवं वासनाओ की जंजीरो में जकड़े हुवे हैं, यदि आत्मशत्रुओ पर वीरतापूर्ण विजय प्राप्त करने की अलौकिक कला को सीख ले एवं आत्मबोध और जागृति को प्राप्त कर दुःख सागर की भंवर के चक्कर से

निकलने का उपाय जान ले तो इसमें कुछ भी आश्चर्य नहीं।

इस भांति जैनधर्म मे परमात्मा की भक्ति, उपासना या पूजा एक आदर्श पूजा या या वीर पूजा है, जो काम, क्रोध, मान, माया, लोभ, मोहादि कर्म शत्रुओ पर पूर्ण विजय प्राप्त करने वाले महा वीरो (परमात्मा) की श्रद्धा और आदर के साथ की जाती है।

ऐसे परमात्मा के साक्षात्कार न होने पर उनकी उपासना उन (अरहन्त) जैसी वीतराग बिब (मूर्ति) को प्रतिष्ठित कर करना चाहिये। क्योंकि मूर्ति का सहारा लिये बिना परमात्मा के ध्यान करने का अभ्यास प्रारम्भिक दशा में किसी प्रकार भी संभव नही हो सकता। गृहस्थ दशा में चंचल मन के द्वारा किसी न किसी आकार की कल्पना करके (चित्र खीचकर) ही किसी वस्तु का सरलतापूर्वक ठीक-ठीक ध्यान किया जा सकता है। मूर्ति का सहारा लिये बिना परमात्मा का ध्यान करने की क्षमता गृहत्यागी, सासारिक झंझटो और वासनाओं से मुक्त जितेन्द्रिय एवं तत्वज्ञानी योगीजनो मे ही रहा करती है–जिन्होने कि अपने चंचल मन को निरन्तर आत्मा और परमात्मा के गुणो के चिन्तन में लगाकर बिना किसी सहारे के ध्यान करने का ठीक-ठीक अभ्यास कर लिया है। कभी-कभी तो उन्हे भी चंचल चित्त को वश करने के लिये मूर्ति का सहारा लेना अनिवार्य हो जाता है। फिर रात दिन विषय कषायों में फसे रहने वाले गृहस्थों की तो बात ही क्या है, जिनका मन मूर्तियों के सामने बैठे रहकर और प्रयत्न करने पर भी प्रायः घर गृहस्थी तथा विषय वासनाओ मे बार-बार भाग कर चला जाता है।

यहाँ यह स्पष्टीकरण आवश्यक है कि जैन दर्शन में मूर्ति पूजा का उद्देश्य केवल धातु पाषण आदि की बनी मूर्ति की पूजा न होकर मूर्ति के द्वारा मूर्तिमान् की उपासना करना है। चंचल मन को वश में करने और परोक्ष वस्तु का ज्ञान कराने के लिये आत्म साधना की प्रारंभिक दशा में मूर्ति कितनी उपयोगी वस्तु है, इस बात का पता प्रारभिक कक्षाओं में पढ़ने वाले विद्यार्थियों और उनमें भी भूगोल के विद्यार्थियों से लगता है जिन्हें नक्शों (रेखा चित्रों) की सहयता से विश्व की स्थिति का ज्ञान सरलता मे करा दिया जाता है। सिह का चित्र दिखा कर सिह का फिर जिस मूर्ति मे हम परमात्मा के गुणों का सकल्प कर उसकी प्रतिष्ठा करते है, पूजा करते समय हमारे मन में यह भाव भी स्वाभाविक रूप मे उत्पन्न होता है कि हम भगवान् की पूजा कर रहे हैं। अन्यथा दर्शन पूजन आदि की प्रक्रिया निष्प्राण होकर निरर्थक हो जायगी। मूर्ति में भगवान् की प्रतिष्ठा कर हम उसके दर्शनों से सभी लाभ ले सकते है—यदि हम ध्यान दे तो वीतराग मूर्तिया भी हमें मौन रहकर अपनी शांत मुद्रा द्वारा हृदय पर वीतरागता अंकित करने की पूर्ण क्षमता रखती है।



तृतीय खंड

जैनधर्म की प्राचीनता

यह तो मानना ही चाहिये कि समीचीनता का प्राचीनता के साथ कोई घनिष्ठ सम्बन्ध नही है, और न यह नियम ही है कि जो कुछ प्राचीन है वह सब कुछ उपादेय ही है तथा नवीन सब हेय। क्योंकि ऐसा मान लेने पर पाप वासना आदि दुष्कर्म भी केवल प्राचीनता के बल पर उपादेय ठहर जावेंगे, जो कि अनादि काल से संसार में विद्यमान है, और आत्माओ को सासारिक जालों में फँसाये रखकर उन्हें जन्म मरणादि के संकटों मे उलझाये हुवे हैं। इसलिये समीचीनता (अच्छाई) यदि आज ही उत्पन्न हुई हो तो वह कल्याण की दृष्टि से तुरन्त ग्रहण करने योग्य है, न कि असख्य वर्षों से चली आने के कारण बुराई। इसलिये जैनधर्म का उदयकाल यदि प्राचीन न भी माना जाय, किन्तु है वह सार्व और समीचीन धर्म, जिससे कि विश्व के न केवल मानव समाज का बल्कि प्राणि मात्र का कल्याण सुनिश्चित है, तो उसकी उपादेयता भी असन्दिग्ध है। फिर भी जैन धर्म इस युग में कब और किसके द्वारा उदय को प्राप्त हुआ, इस प्रश्न को इतिहासप्रेमी पाठकों के मन मे उठने से रोका नही जा सकता। अतः इसका उत्तर भी सन्तोषप्रद एवं प्रमाण संगत मिलना चाहिये। साथ ही जैन धर्म के इतिहास के सम्बन्ध में लोक में भ्रम भी फैला हुआ है, कोई इसे बौद्ध धर्म की शाखा या बौद्ध धर्म से इसकी उत्पत्ति

मानता है तो कोई हिन्दू धर्म से, कोई भगवान् महावीर को जैन-धर्म का संस्थापक समझता है तो दूसरा भगवान् पार्श्वनाथ को। इन भ्रामक कल्पनाओं का निराकरण होना भी सत्यान्वेषण की दृष्टि से आवश्यक है। अतः अब तक समुपलब्ध हुई भारतीय पुरातत्व की सामग्री, प्राचीन साहित्यिक प्रमाणों एवं प्राच्य व पाश्चात्य विद्वानों की निष्पक्ष गवेषणात्मक खोजों एवं तर्क पूर्ण सम्मतियों द्वारा इस विषय पर थोड़ा सा प्रकाश डालना भी अनुचित न होगा।

प्रत्येक बुद्धिमान यह भलीभांति जानता है कि दुनियां मे जब से कोई रोग है तभी से उसकी औषधि भी अवश्य है। यह बात दूसरी है कि किसी समय उस औषधि का कोई जानकार समुपलब्ध न हो, किन्तु इतने मात्र से औषधि का अभाव नहीं कहा जा सकता है, इसी प्रकार अंधकार जब से संसार में अस्तित्व रखता है तभी से उसका प्रतिपक्षी प्रकाश भी। संभव है कभी प्रकाश पर अंधकार की विजय हो जाय और प्रकाश की किरणें क्षीण या अस्तित्वहीन सी दिखाई देने लगें, किन्तु थोड़ी देर पश्चात् प्रकाश की विजय का डंका फिर से बजता हुआ सुनाई पडने लगता है। इसी तरह संसार और मुक्ति जब कि ये दो अवस्थाएँ हैं। पहली दुःखमय और दूसरी सुखमय। दुःखमय अवस्था जो संसार के नाम से पुकारी जाती है—जीव के अपने ही रागद्वेषादि विकारों एवं पापादि दुष्कर्मों के फलस्वरूप सन्तान क्रम से नाना रूप में प्रकट होती रहती है। अपनी दुःखमय अवस्था का बोध प्राप्त कर आत्मा को सुखमय बनाने का प्रयत्न प्रारम्भ करने से वह संसार

बंधन से मुक्त हो जाती है। इसलिये जब से संसार बंधन है तभी से उससे छूटने का उपाय भी। इस बंधन से छूटने एवं दुखों व रागादि विकारों पर विजय प्राप्त करने के वीरता-पूर्ण उपाय या साधन को ही धर्म कहते हैं। अतः सिद्ध है कि संसार स छूटने का उपाय (जैनधर्म) संसार की भाँति ही अनादि होना चाहिये। यह बात दूसरी है कि उसके जानने, प्रकट करने या धारण करने वाले कभी कम कभी अधिक और कभी बिलकुल ही न पाये जावें; किन्तु इससे संसार के दुखों से छूटने के उपाय स्वरूप वास्तविक धर्म का व्यक्त या अव्यक्त रूप में अभाव नहीं माना जा सकता।

अब जरा इतिहास व वेद पुराणादि साहित्य मे उपलब्ध प्रमाणों से जैनधर्म के अस्तित्व और उसकी प्राचीनता पर दृष्टिपात कीजिये। कहा जाता है कि दुनियाँ की सब से प्राचीन पुस्तक वेद है। इन वेदों में ऋषियों द्वारा जैन तीर्थकरों (धर्म प्रवर्तकों) का उल्लेख मिलता है। अतः उन ऋषियों और वेदों की उत्पत्ति से भी पूर्व जैन धर्म का अस्तित्व स्वतः ही सिद्ध हो जाता है, क्योंकि जब वे तीर्थकर हो गये थे और जैसे-जैसे उन्होंने कार्य किये थे, उनका वर्णन भी उनके हो जाने के पश्चात् ही हो सकता है। वेद के जिन मंत्रों में जैन तीर्थंकरों के नामों का या अरहन्त का उल्लेख है-उनमें से कुछ यहाँ 'विरोध परिहार ग्रंथ से तथा अन्य विद्वानों के लेखों से संकलन कर उद्धृत किये जाते हैं।

अर्हन् विभर्षि सायकानि धन्वार्हन्निष्कं यजतं विश्वरूपम्।
अर्हन्निदं दयसे विश्वमम्वं न वा ओ जीयो रुद्रत्वदस्ति॥

—ऋग्वेद अ० २ सूक्त ३३ वर्ग १७

भावार्थः–हे अर्हन् ! तुम वस्तु स्वरूप धर्मरूपी बाणों को, उपदेश रूपी धनुष को, तथा आत्म चतुष्टय रूप आभूषणों को, धारण किये हो। हे अर्हन् ! आप संसार के सब प्राणियों पर दया करते हो और हे कामादिक को जलाने वाले, आपके समान कोई रुद्र नहीं है।)

निम्नलिखित मंत्रों मे अर्हन्त या अर्हन् शब्द का भी उल्लेख है:–

इमंस्तोममर्हतेजातवेदसेरथमिव संमहेमामनीषय ।
मद्राहिनः प्रमतिरस्यसंसद्यग्नेसरयेमारिषामावयंतव ।।

—ऋग्वेद मंडल १ सूक्त ९४

अर्हन्तायेपदानवोनरो प्रसामिशवसः ।
प्रमज्ञयज्ञियेभ्योदि वोअर्चामिहद्भ ।।

—ऋग्वेद मडल ५ सूक्त ५२,५

अर्हन्त या अर्हन् शब्दो के अतिरिक्त जो कि जिन का ही पर्यायवाची है और जो जैनधर्म में मान्य पाँच परमेष्ठियों में से प्रथम परमेष्ठी के लिये प्रयुक्त होता है, वेदों में इस युग के प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव, ७ वे तीर्थंकर सुपार्श्वनाथ, २२ वे तीर्थंकर अरिष्टनेमि के नामों का उल्लेख व उनकी स्तुति भी पाई जाती है जैसे—

ऋषभं मा समासानां सपत्नाना विषासहितम् ।
हन्तारं शत्रूणां कृधि विराजं गोपितं गवाम् ।।

—ऋग्वेद

इस मंत्र में ऋषभ को देवता मानकर उनकी स्तुति की गई है।

"ओम् सुपार्श्वमिन्द्र हवे' —यजुर्वेद

इसमें ७ वें तीर्थंकर सुपार्श्वनाथजी का नामोल्लेख करके उन्हें आहुति प्रदान की गई है। इसी प्रकार २२ वें तीर्थंकर श्री नेमिनाथजी की स्तुति व पूजा सूचक भी कई मंत्र हैं:-

वाजस्य नु प्रसवः आवभूवे मा च विश्वाभुवनानि सर्वतः।
स नेमि राजा परियाति विद्वान् प्रजा पुष्टि वर्द्धयमानो ।।
अस्मै स्वाहा।
——यजुर्वेद अ० ९ मंत्र २५

इस मंत्र में नेमिनाथजी की स्तुति करते हुवे उन्हे आहुति प्रदान की यी गहै।

स्वस्ति न इन्द्रोवृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्व वेदाः।
स्वस्ति नस्ताक्ष्यों अरिष्ट नेमि· स्वति नो वृहस्पतिर्दधातु ।।

इस मंत्र में इन्द्र, पूषा, अरिष्टनेमि व बृसस्पति से मगल कामना की गयी है।

वेदों के सिवाय भारत के पाणिनि आदि वैयाकरणों से भी बहुत प्राचीन वैयाकरण शाकटायन ने, जिनका समय आज से करीब ३००० तीन हजार वर्ष से भी प्राचीन समझा जाता है, अपने उणादि, प्रकरण के एक सूत्र में 'जिन' शब्द का प्रयोग किया है और ये 'जिन' ही जैनधर्म के सर्वेसर्वा हैं।

इणसिणजिदीङ्ग्ष्यविभ्योनक् । जिनोर्ऽहन् ।
—सिद्धान्त सूत्र ३०३

इनके अतिरिक्त मोहन जोदडो (सिन्ध) की खुदाई में जो सीलें व सिक्के प्राप्त हुए हैं उनमें से कुछ पर "नमो जिनेश्वराय" लिखा है* तथा सिक्कों पर ध्यानस्थ भगवान् ऋषभदेव की मूर्तियाँ व उनके नीचे बैल का चिन्ह मौजूद है, जो जैनशास्त्रों में वर्णित लक्षणों से पूर्ण रूप से मिलता है और जिसे पुरातत्व विद्वान् प्रोफेसर चंदा ने ऋषभदेव की मूर्ति स्वीकार किया है। यह स्मरणीय है कि उन उपलब्ध सीलो व सिक्कों आदि सामग्री के सम्बन्ध मे जो कि मोहन जोदडो की खुदाई में प्राप्त हुई है, सभी पुरातत्वज्ञों ने उसे ५००० वर्ष प्राचीन स्वीकार किया है। इससे यह सिद्ध है कि अब से पाच हजार वर्ष से भी पूर्व जैनधर्म का प्रकाश यहाँ पर सविशेष रूप मे फैला हुआ था। पुरातत्व की सामग्री का परिशीलन करने के पश्चात सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक प्रकाण्ड विद्वान श्री विसेंट स्मिथ साहब लिखते है:—

"इन खोजों से लिखित जैन परम्परा का अत्यधिक समर्थन हुआ है। वे इस बात के स्पष्ट और अकाट्य प्रमाण है कि जैनधर्म प्राचीन है वह प्रारम्भ मे वर्तमान स्वरूप में था। ईसवी सन् के प्रारम्भ में भी चौबीस तीर्थंकर अपने अपने चिन्ह सहित निश्चय पूर्वक माने जाते थे।"

---

* It may also be noted that the Inscription on the indus seal No. 449 rerds according to my decipherment "Jinesh". —**Dr. Prannath Vidyalankar.**

(Indian Historical quarterly, Vol. VIII No. 2, SP.)

सिद्धान्त महोदधि, महामहोपाध्याय, डॉ. सतीशचन्द्र एम. ए., पी. एच. डी., प्रिंसीपाल संस्कृत कालेज कलकत्ता लिखते हैं:—

"जैनमत तब से प्रचलित हुआ जब से संसार में सृष्टि का प्रारम्भ हुवा, मुझे इसमें किसी प्रकार उज्र नहीं है कि जैन-धर्म वेन्दातादि दर्शनों से पूर्व का है।"

विद्यानिधि, वेदतीर्थ, धर्मभूषण पं० श्री विरूपाक्ष वडियर एम. ए., प्रोफेसर सस्कृत कालेज इन्दौर ने चित्रमय जगत में लिखा था.—

"ईर्ष्या देष के कारण धमप्रचार को रोकने वाली विपत्ति के रहते हुवे भी जैन शासन कभी पराजित नहीं हुआ, सर्वत्र विजयी होता रहा है। अरहंत साक्षात् परमेश्वर स्वरूप हैं इसके प्रमाण भी आर्यग्रन्थो में पाये जाते हैं। अरहत परमेश्वर का वर्णन वेदों में भी पाया जाता है।"

जो लोग वर्तमानकालीन २४ वें तीर्थंकर भगवान् महावीर या २३ वे तीर्थंकर भगवान् पार्श्वनाथ को ही जैनधर्म का संस्थापक मानते हैं, आशा है उनका भ्रम उपर्युक्त प्रमाणों से दूर हो जायगा। इसके अतिरिक्त जिन अन्य प्रमाणों द्वारा जैनधर्म की प्राचीनता सिद्ध होती है उनमें हिन्दू धर्म का पुराण साहित्य भी मुख्य है। भागवत पुराण में स्पष्टतया भगवान् ऋषभदेव को, जिनका समय जैन शास्त्रानुसार अब से असंख्यात वर्ष पूर्व और इतिहास की आधुनिक परिधि के परे है, जैनधर्म का प्रवर्तक लिखा है। पाठकों की

सुविधा के लिये भागवत के हिन्दी भाष्य को नीचे उद्धृत किया जाता है:—

"ऋषभ अवतार कहे है कि ईश्वर अगनीद्र के पुत्र नाभि से सुदेवी पुत्र ऋषभदेवजी भये। समान दृष्टा जड की नाई योगाभ्यास करते भये जिनके परमहंस पद को (दिगम्बरता को) ऋषियों ने नमस्कार कीनो, स्वस्थ, शान्त इन्द्रिय, सब संघ त्यागे, ऋषभदेवजी भये जिनसे जैनधर्म प्रकट भयो।।"

—भागवत पुराण २, ७–९, १० ज्वालाप्रसाद भाष्य

भागवत के अध्ययन के पश्चात् हिन्दू यूनिवर्सिटी बनारस के भूतपूर्व वाइस चान्सलर, विश्वविख्यात् दार्शनिक विद्वान् डा. सर राधाकृष्णन् ने जो भारत के महामहिम राष्ट्रपति भी रह चुके हैं, अपने इंडियन फिलासफी नामक ग्रन्थ में लिखा है:—

"The Bhagwat Puran endorses the view that the Rishabh was the founder of Jainism." —**Indian Philosophi, 278**

अर्थात् भागवत पुराण मे स्वीकार किया गया है कि जैन-धर्म के संस्थापक ऋषभदेव थे। भागवत के अतिरिक्त विष्णु-पुराण, वायुपुराण, लिंगपुराण, कूर्मपुराण, मत्स्यपुराण, मार्कण्डेयपुराण, अग्निपुराण आदि में भी भगवान ऋषभदेव और उनके पिता आदि का वर्णन है, जो जैन पुराणों से मिलता है।

जर्मनी के सुप्रसिद्ध विद्वान् ड० जैकोबी लिखते है:—

"There is nothing to prove that Parshwa was the founder of Jainism. Jain tradition is unanimous in making Rishabha the first-Tirthankar (as its founder) there may be somethihg historical in the tradition which makes him the first Tirthankar."

अर्थात् पार्श्वनाथ को जैन धर्म का संस्थापक सिद्ध करने के लिये प्रमाण का अभाव है। जैन मान्यता ऋषभदेव को अविरोध जैनधर्म का संस्थापक-स्वीकार करती है। जैनियों की इस मान्यता मे ऐतिहासिक सत्य की संभावना है।

इस सम्बन्ध मे प्रसिद्ध बंग विद्वान् श्री वरदाकान्त मुख्योपाध्याय एम.ए. लिखते हैं :—

"लोगो का वह भ्रमपूर्ण विश्वास है कि पार्श्वनाथ जैनधर्म के सस्थापक थे; किन्तु इसका प्रथम प्रचार ऋषभदेव ने किया था, इसकी पुष्टि मे प्रमाणों का अभाव नही है। आगे चलकर यही विद्वान् लिखते हैं:—

(१) बौद्ध लोग महावीर को निर्ग्रन्थ अर्थात् जैनियो का नायक मात्र कहते हैं, स्थापक नहीं कहते।

(२) जर्मन विद्वान् डाक्टर जैकोबी भी इसी मत से सहमत हैं। (इनका मत ऊपर दिया जा चुका है)।

(३) हिन्दू शास्त्रो और जैन शास्त्रों का भी इस विषय में एक मत है। भागवत के पांचवें स्कन्ध के अध्याय २, ६ में ऋषभदेव का कथन है, जिसका भावार्थ यह है:—

चौदह मनुष्यों में से पहिल मनु स्वयंभू के पौत्र, नाभि के पुत्र ऋषभदेव हुवे, जो दिगम्बर जैन धर्म के आदि प्रचारक थे। इनके जन्मकाल में जगत की बाल्यावस्था थी, इत्यादि।

(४) डाक्टर फुहरर ने, जो मथुरा के शिलालेखों से समस्त इतिवृत्त का खोज किया है, उसके पढने से जाना जाता है कि पूर्वकाल में ऋषभदेव की मूर्तियां बनाते थे। ये शिलालख कनिष्क, हुवष्क आदि राजाओं के राजत्वकाल में आज से दो हजार वर्ष पहिले खोदे गये हैं।

(५) शंकराचार्य महराज स्वय स्वीकार करते हैं कि जैन धर्म अति प्राचीन काल से है। वे वादरायण व्यास के वेदान्त सूत्र के भाष्य मे कहते हैं कि दूसरे अध्याय के द्वितीय पाद के सूत्र ३३, ३६ जैनधर्म ही के संबंध मे हैं।

(६) शारीरिक मीमासा के भाष्यकार रामानुजजी का भी यही मत है।

(७) योगवशिष्ठ रामायण वैराग्य प्रकरण अध्याय १५ श्लोक ८ में श्री रामचन्द्रजी जिनेद्र के सदृश शांत प्रकृति होने की इच्छा प्रकट करते हैं यथा:—

नाहं रामो न मे वांछा भावेषु च न मे मनः ।
शांतिमासितुमिच्छामि स्वात्मन्येव जिनो यथा ।।

इसमे प्रकट है कि रामचंद्रजी के समय जैनधर्म का प्रकाश फैल रहा था और श्री रामचंद्रजी ने जिन के समान आत्मशांति प्राप्त करने की इच्छा प्रकट की थी। (जैनधर्मानुसार तो रामचन्द्रजी जैनेश्वरी दीक्षा धारण कर तपस्वी हुवे और अन्त में मोक्ष को प्राप्त हुए हैं।)

(८) रामायण के बालकांड, सर्ग १४, श्लोक २२ में लिखा है कि राजा दशरथ ने श्रमण गणों (अर्थात् नग्न जैन साधुओं) का अतिथि सत्कार किया था—

"तापसा भुञ्जते चापि श्रमणा भुञ्जते तथा ।।

बालकांड सर्ग १४, श्लोक २२

भूषण टीका में श्रमण शब्द का अर्थ दिगम्बर अर्थात् सर्व वस्त्ररहित जैनमुनि किया है। यथा:—

"श्रमणा: दिगम्बरा: श्रमणा वात वसना इति ।

जैनधर्म की प्राचीनता के सम्बन्ध में भारत मे स्वराज्य आन्दोलन के प्रवर्तक सुप्रसिद्ध नेता, हिन्दू धर्म के महान् विद्वान् एवं इतिहासज्ञ, गीता के भाष्यकर्ता स्वर्गीय लोकमान्य पंडित बालगंगाधर तिलक ने तारीख ३० नवम्बर सन् १९०४ को श्वेताम्बर जैन कान्फ्रेन्स बड़ोदा में जो भाषण दिया था उसमें आपने स्पष्टतया प्रतिपादन किया था कि—

"ग्रन्थों तथा सामाजिक व्याख्यानों से जाना जाता है कि जैनधर्म अनादि है। यह विषय निर्विवाद तथा मतभेद रहित है। सुतरां इस विषय मे इतिहास के दृढ़ सबूत हैं।

गौतमबुद्ध महावीर स्वामी (जैन तीर्थंकर) का शिष्य था, जिससे स्पष्ट जाना जाता है कि बौद्ध धर्म की स्थापना के पूर्व जैनधर्म का प्रकाश फैल रहा था। २४ तीर्थंकरों में महावीर स्वामी अंतिम तीर्थंकर थे। इससे भी जैनधर्म की प्राचीनता जानी जाती है। बौद्धधर्म पीछे से हुवा यह बात निश्चित है। बौद्धधर्म के तत्व जैनधर्म के तत्वों के अनुकरण हैं। —केशरी १३ दिसम्बर १९०४

माननीय प० तिलक के उपर्युक्त कथन से जो जैनधर्म को बौद्ध धर्म की शाखा या उससे उत्पन्न हुआ मानते हैं, आशा है उनका भ्रम दूर हो जायगा। आपने यह भी फरमाया था कि अहिंसा परमोधर्मः के उदार सिद्धान्त की चिरस्मरणीय छाप जैनधर्म ने ही ब्राह्मण धर्म पर भारी है। भारत मे यज्ञों द्वारा जो असंख्य पशु हिंसा धर्म के नाम पर की जाती थी, उसको सदा के लिये बिदा कर देने का श्रेय भी जैनधर्म क हिस्से मे है। आदि...

श्रीयुत् महामहोपाध्याय, सत्यसम्प्रदायाचार्य, पंडित राम-मिश्रजी शास्त्री, प्रोफेसर सस्कृत कालेज वाराणसी ने पौष शुक्ला १ सं. १९६२ को व्याख्यान देते हुव जैनधर्म के विषय में जो उद्गार प्रकट किये थे उनका कुछ अश निम्न प्रकार है:—

"ज्ञान, वैराग्य, शाति, क्षाति, अदम्भ, अनीर्ष्या, अक्रोध, अमात्सर्य, अलोलुपता, शम, दम, अहिसा, समदृष्टिता इत्यादि गुणो मे एक एक गुण ऐसा है कि जहां वह पाया जाय वहां पर बुद्धिमान पूजा करने लगत हे। तब तो जहां (जैन धर्म) में पूर्वोक्त सब गुण निरतिशय सीम होकर विराजमान है वहाँ उनकी पूजा न करना अथवा ऐसे गुण पूजकों की पूजा में बाधा डालना क्या इसानियत का कार्य है?

मै आपको कहाँ तक कहूँ, बड़े बडे नामी आचार्यो ने अपने ग्रन्थों मे जो जैनमत का खंडन किया है उसे सुन व देख कर हँसी आती है। स्याद्वाद का यह जैनधर्म अभेद्य किला

है। उसके अंदर वादी-प्रतिवादियों के मायामय गोले नहीं प्रवेश कर सकते। सज्जनों, एक वह दिन था कि जैन सम्प्रदाय के आचार्यों की हुंकार से दशों दिशायें गूँज उठती थीं। जैनमत तब से प्रचलित हुआ जब से संसार में सृष्टि का आरंभ हुआ। इसमें मुझे किसी प्रकार का उज्र नही कि जैनदर्शन वेदान्तादि दर्शनों से पूर्व का है। आदि . . .।

स्व० प्रसिद्ध इतिहासज्ञ विद्वान् साहित्यरत्न लाला कन्नोमल एम.ए. सेशन जज धौलपुर ने अपने एक लेख में लिखा था:—

"सभी लोग जानते हैं कि जैनधर्म के आदि तीर्थंकर श्री ऋषभदेव स्वामी हैं, जिनका काल इतिहास परिधि से कहीं परे है। इनका वर्णन श्रीमद् भागवत पुराण मे भी है। ऐतिहासिक गवेषणा से मालूम होता है कि जैनधर्म की उत्पत्ति का कोई निश्चित काल नही है। प्राचीन से प्राचीन ग्रन्थों में जैनधर्म का हवाला मिलता है।"

सुप्रसिद्ध दार्शनिक विद्वान् श्रीयुत् हरिसत्य भट्टाचार्य एम.ए.बी.एल. लिखते है—

"जैन तथा बौद्ध धर्म के तत्वों की यदि ठीक-ठीक आलोचना की जाय तो यह स्पष्ट रूप मे प्रकट हो जायगा कि ये दोनों धर्म एक दूसरे से पूर्णतया पृथक् हैं। बौद्धों का कहना है कि शून्य ही एक मात्र तत्व है। जैनों के मतानुसार सत्पदार्थ हैं एवं उसकी संख्यायें अगणित है। बौद्धमत के अनुसार आत्मा का कोई अस्तित्व नहीं है, परमाणु का भी कोई अस्तित्व नही। दिक्, काल, धर्म (गतितत्व) ये कुछ भी नही हैं, ईश्वर नहीं

है, किन्तु जैनों के मत में इन सबों की सत्ता मानी जाती है। बोद्धों का कहना है कि निर्वाण लाभ होते ही जीव शून्य में विलीन हो जाता है, किन्तु जैनमत के अनुसार मुक्त जीव का अस्तित्व चिर आनन्दमय है, और वही उसका सच्चा अस्तित्व हुवा करता है। यहाँ तक कि बौद्धदर्शन का कर्म भी जैनदर्शन से भिन्नार्थवाचक हुवा करता है। उपर्युक्त कारणो से ही हम जैनधर्म को बौद्धधर्म की एक शाखा मानने को तैयार नही है।

सुप्रसिद्ध इतिहासवेत्ता प्रोफेसर मैक्समूलर कहते है:—

"विशेषत: प्राचीन भारत में किसी धर्मान्तर से कुछ ग्रहण करके एक नूतन धर्म प्रचार करने की प्रथा ही नही थी, जैनधर्म हिन्दू धर्म से सर्वथा स्वतंत्र है, उसकी शाखा या रूपान्तर नहीं।"

डाक्टर ए. गिरनाट नामक फ्रेन्च विद्वान् लिखते है कि:—

"Concerning the antiquity of Jainism comparatively to Budhism the former is truly more ancient than the latter. There is very great ethical value in Jainism for men's Improvement. Jainism is a very original inceyendent and systomatical doctrine."

अर्थात् जैनधर्म और बौद्धधर्म की प्राचीनता के संबंध में मुकाबला करने पर जैनधर्म बौद्धधर्म से वास्तव मे बहुत प्राचीन है। मानव समाज की उन्नति के लिये जैनधर्म में सदाचार का बड़ा मूल्य है। जैनधर्म एक मौलिक, स्वतन्त्र और नियमित सिद्धान्त है।

इन विद्वानों के अतिरिक्त एक और पाश्चात्य विद्वान् मेजर जनरल जे.सी.आर. फर्लांग महोदय अपनी पुस्तक में लिखते हैं कि ईसा के अनगिनती वर्ष पहले से जैनमत भारत में फैला हुआ था। आर्य लोग जब मध्यभारत में आए तब वहाँ जैन लोग मौजूद थे। उक्त पुस्तक के कुछ वाक्य ये हैं—

"Through what historical channels did Budhism influence early christianity, we must widen this enquiry by making it embrace, Jainism the undoubtedly prior faith of very many millions throngh untold millennions.

–**The Short study in Science of Compative Religion**. (Intro.P.I.)

भावार्थ—किन ऐतिहासिक मार्गों से बौद्धधर्म ने पुराने ईसाई धर्म पर असर डाला, इसकी खोज करते हुए यह कहना होगा कि इसने जैनमत स्वीकार किया जो कि वास्तव में अकथनीय हजारों वर्षों से करोड़ों मनुष्यों का प्राचीन धर्म था। आगे चलकर इसी पुस्तक में आप लिखते हैं कि—

It is impossible to find a beginning for Jainism" (Intro P.13)

"Jainism thus appears an earliest faith of India" (Intro.P.15)

अर्थात् जैनधर्म की शुरूआत (प्रारम्भिक काल) का पता पाना असम्भव है। इस तरह भारत का सबसे प्राचीन धर्म यह जैनधर्म ही मालूम होता है।

. जैन सिद्धान्त की प्राचीनता एवं महत्ता का प्रतिपादन करते हुए नागपुर हाईकोर्ट के भूतपूर्व चीफ जस्टिस एवं नागपुर यूनिवर्सिटी के एक्स वाईस चांसलर डा० सर एम . बी . नियोगी लिखते है–

"विश्लेषणकरने पर जैनधर्म के उपदेश उतने ही आधुनिक ज्ञात होंगे जितने कि वे प्राचीन है। वे साम्प्रदायिकता पूर्ण नहीं हैं, क्योंकि वे किसी न किसी रूप मे विश्व के उन सभी महान् धर्मो के आधारभूत है, जिनने मनुष्य के प्रारब्ध को प्रभावित किया ।"

संसार मे प्रचलित विविध मत मतान्तरो एवं उनके इतिहास की गवेषणा करते हुए फ्रांस के प्रोफेसर श्री लुई रेनाक पी . एच . डी . पेरिस कहते हैं–

"नये धार्मिक आंदोलन चलाने की आवश्यकता नही है क्योंकि जैनधर्म में दुखी दुरियां के हित के लिए सब कुछ मौजूद है। उसका ऐतिहासिक आधार भी सारभूत है। जैनधर्म ने ही पहिले पहिल अहिसा का प्रचार किया। दूसरे धर्मों ने उसे वहाँ से लिया ।" आदि।

इस भांति प्राच्य और पाश्चात्य वर्तमान ऐतिहासिक विद्वान् प्रायः एक स्वर से स्वीकार करते हैं कि पजैनधर्म एक लोक कल्याणकारण सार्वभौमिक, स्वतन्त्र और मौलिक सिद्धान्त है और वह अत्यन्त प्राचीन है, जिसकी प्राचीनता आज की ऐतिहासिक सीमा से परे है।

श्रीयुत् हरिसत्य भट्टाचार्य एम.ए., बी.एल. अपने "भारतीय दर्शनों में जैनधर्म का स्थान" शीर्षक निबन्ध में लिखते हैं "यह तो मानना ही पड़ेगा कि भारतवर्ष के यावतीय दार्शनिक मतवादों में इसका (जैनधर्म का) एक गौरवमय स्थान अवश्य रहा है, और आज भी है। तत्वविद्या के यावतीय (सम्पूर्ण) अंग इसमें विद्यमान होने के कारण जैन दर्शन को एक सम्पूर्ण दर्शन मान लेने में कोई मतभेद नहीं होना चाहिए। वेदों में तर्क विद्या का उपदेश नहीं है, वैशेषिक कर्माकर्म या धर्माधर्म की शिक्षा नहीं देता, किन्तु जैनदर्शन मे न्याय, तत्वविचार, धर्म-विचार, धर्म-नीनि, परमात्म तत्व आदि सभी बातें विशद रूप में विद्यमान है। जैन दर्शन प्राचीनकाल के तत्वानुशीलन का सचमुच एक अनमोल फल है, क्योंकि जैनदर्शन को यदि छोड़ दिया जाय तो सारे भारतीय दर्शनों की आलोचना अधूरी रह जायगी, यह अकाट्य सत्य है।"

जैनधर्म को विश्वधर्म प्रतिपादित करते हुए कलकत्ता यूनिवर्सिटी के वाईस चांसलर सुप्रसिद्ध धर्म और दर्शन शास्त्र के विद्वान् डा० कालीदासजी 'नाग' कहते है—

"जैनधर्म किसी खास जाति या सम्प्रदाय का धर्म नहीं है, बल्कि यह अन्तर्राष्ट्रीय सार्वभौमिक और लोकप्रिय कल्याण-कारक धर्म है। जैन तीर्थंकरों की महान् आत्माओं ने संसार के राज्यों को जीतने की चिन्ता नही की, राज्यों को जीतना कोई कठिन नहीं, बल्कि उनका ध्येय स्वयं पर (अपने विकारों पर) विजय प्राप्त करने का रहा। यही एक महान् ध्येय

है जिसमें मानव जीवन की सार्थकता का रहस्य छुपा हुवा है। लड़ाइयों में कुछ समय के लिये शत्रु दब जाता है। दुश्मनी का नाश नहीं होता। हिंसक युद्धों से संसार का कल्याण नहीं होता। यदि किसी ने आज महान् परिवर्तन करके दिखाया है तो वह अहिंसा सिद्धान्त है जिसकी खोज संसार की समस्त खोजों और उपलब्धियों से महान है। मनुष्य का स्वभाव है कि नीचे की ओर जाना। परन्तु जैन तीर्थंकरों ने सर्वप्रथम यह बताया कि मनुष्य को अहिंसा का सिद्धान्त ऊपर उठाता है।

संसार में प्रायः यह मत प्रचलित है कि महात्मा बुद्ध ने आज से २५०० वर्ष पूर्व अहिंसा सिद्धान्त का प्रचार किया। किसी इतिहास के ज्ञानी को इसका बिलकुल ज्ञान नहीं कि महात्मा बुद्ध से करोड़ों वर्ष पूर्व एक नहीं अनेक जैन तीर्थंकरो ने अहिंसा सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। प्राचीन क्षेत्र और शिलालेख इस बात को प्रमाणित करते हैं कि जैन धर्म प्राचीन धर्म है, जिसने भारतीय संस्कृति को बहुत कुछ दिया।"

भारत के भूतपूर्व लोक सभाध्यक्ष श्री अनन्तशायनम आयंगर अपने उद्‌गारों को अभिव्यक्त करते हुए लिखते हैं–

"भारत के महान सन्तों जैसे जैनधर्म के तीर्थंकर ऋषभदेव व भ. महावीर के उपदेशों को हमे पढ़ना चाहिए। आज उन्हें अपने जीवन में उतारने का सबसे उपयुक्त समय आ पहुँचा है। क्योंकि जैनधर्म का तत्वज्ञान अनेकांत (सापेक्ष्य पद्धति) पर आधारित है और जैनधर्म का आचार अहिंसा पर प्रतिष्ठापित। जैनधर्म कोई पारस्परिक विचारों, ऐहिक व पारलौकिक

मान्यताओं पर अन्धश्रद्धा रखकर चलने वाला सम्प्रदाय नहीं है, वह मूलतः एक वैज्ञानिक धर्म है। उसका विकास एवं प्रसार वैज्ञानिक ढंग से हुआ है।" १ अक्तूबर १९६८

डा. एम. हफीज, एम. ए. डी. लिट् अपने एक लेख में लिखते हैं—

"भगवान् महावीर के उपदिष्ट सिद्धान्तों का सूक्ष्म अध्ययन करने पर यह स्पष्ट होता है कि उनके सिद्धान्त मात्र धार्मिक नियम और मान्यताएँ ही नहीं, बल्कि उनका-तात्त्विक महत्व है। भ० महावीर के धर्म सिद्धांतों और पाश्चात्य फिलासफी में केवल इतना अन्तर है कि पश्चिम वालों के सिद्धान्त हमें न कहीं का बना छोड़ते हैं—वे शुष्क हैं। उनमें अनुमानों और कल्पनाओं के सहारे से सत्य को पाने का प्रयास किया गया है, जबकि भ० महावीर ने ऐसे धर्म-सिद्धान्तों और आदर्श का निरूपण किया जो मानवता की उन्नति और पूर्णता के आधार हैं। "जैनधर्म ने मानव उद्‌गम, विकास और ध्येय को बताया जो उसको प्राप्त है। नि-सन्देह जैनधर्म में सत्य तक पहुंचने के लिये एक वैज्ञानिक (अनेकांत) शैली का निरूपण किया गया है। भ० महावीर और उनसे पूर्व हुए तेईस महापुरुष, जिन्हें तीर्थंकर कहते हैं, वे सब ही पूर्ण दृष्टा और पूर्ण आध्यात्मिक अंतरदृष्टि के धारक मानव थे। वे सब ही सत्य और असत्य-परक वस्तु तत्व के वेत्ता थे। उन्होंने पूर्ण परमात्म पद अपने पुरुषार्थ से प्राप्त किया था—उन्होंने व्यक्तावस्था से विचार और कर्म की पवित्रता एवं इच्छा-वांछा के मेल से मुक्ति

पाई थी। अतः अपने आत्म ज्ञान के बल पर वे जीवन-मरण के सिद्धान्तों का निरूपण करने के अधिकारी थे ।

जैन सिद्धान्त का अध्ययन फिलासफी के शान्त वातावरण मे उपादेय है। तब हम देखेंगे कि भ० महावीर एवं अन्य तीर्थंकरों ने मानव जीवन की समस्या का हल एक फिलासफर की दृष्टि से किया है और मानवीय चारित्र-नियमों का निरूपण नितान्त स्पष्टता से किया है । स्पष्टतया बताया है कि मानव कैसे जीवित रहे ? मानवेतर प्राणियों के साथ उसका क्या सबंध है ? और वह कैसे कर्म करे जिससे दूसरे प्राणियों की हिसा न हो। उन्हे कष्ट न पहुंचे। जैन फिलासफी का दावा है कि मानव अभी पूर्ण मानव नहीं है। वह उन्नति करके सर्वतोभद्र सर्वोदय पूर्ण मानव बन सकता है। वह आध्यात्मिकता के सर्वोच्च शिखर पर पहुँच कर चमकेगा और सदा के लिये अनंत चतुष्टय अर्थात् अनन्तज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य का आनन्द लेगा, किन्तु वही मानव जो अपने निज स्वभाव के द्वारा पौद्गलिक संबंध जन्य विभाव (रागद्वेष मोहादि) पर शासन करता है--उसे अपने अधीन रखता है। जब इस विभाव को एवं पुद्गल के संबंध को मानव पूर्णतः जीत लेगा तब वह मुक्त-पूर्ण सुखी आत्मा बनेगा तब वह साधारण मानव से महान मानव बनेगा। यही पुरुषोत्तम मानव जिन या 'तीर्थंकर' कहलाते है।. . . मानव के लिए यही गौरव और सौभाग्य जैनधर्म की महती देन है।

उल्लिखित प्रमाणों तथा निष्पक्ष विद्वानों की गवेषणात्मक सम्मतियों से प्रकट है कि जैनधर्म एक स्वतंत्र, समीचीन एवं

वैज्ञानिक धर्म है साथ ही वह अत्यन्त प्राचीन होने का दावा भी रखता है। जैन शास्त्रानुसार धर्म परम्परा रूप में अनादि अनन्त है और इस युग की दृष्टि से यह देखा जाय तो वह कर्म भूमि के प्रारम्भ मे भगवान् ऋषभदेव के द्वारा आज से असंख्यात वर्ष पूर्व प्रचलित हुआ था। इसके सिद्धान्त समान रूप मे विश्वकल्याण की सद्भावनाओं को लिये हुवे आज भी मानव को सुख-शान्ति के अमर सन्देंश की उच्च स्वर से घोषणा कर रहे हे और सदैव करते रहेंगे। भगवान् ऋषभदेव इस युग में जैनधर्म के प्रथम तीर्थंकर (धर्म प्रवर्तक या आद्य गुरु) थे। इनके हजारों लाखों वर्षों के बाद दूसरे और इसी प्रकार तीसरे चौथे आदि चौबीस तीर्थंकर हुए—जो स्व पर कल्याण कर मुक्ति लाभ करते रहे हैं। चौबीसवें अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर हुए, जिनके द्वारा उपदिष्ट धर्म की परम्परा आज भी प्रवर्तमान होकर विश्व के प्राणिमात्र का हित करने में तत्पर है।

एवमस्तु

ग्रंथमाला द्वारा प्रकाशित अन्य ग्रन्थ :

१. **परमज्योति महावीर**—र कविवर 'सुधेश' पृ. ६६५ मू. सजिल्द लागत ७) विक्रयार्थ ५) भगवान महावीर का सर्वोत्तम एवं सर्वांग सुन्दर पद्यमय सचित्र जीवन।

२. **रिष्ट समुच्चय**—र. आचार्य दुर्गदेव पृ. २०० सजिल्द मू. ३) अपनी आयु और मरण के समय की जानकारी देने वाला अपूर्व प्राचीन ग्रन्थ। हिन्दी टीकाकार डॉ. नेमीचद ज्योतिषाचार्य, डी. लिट् आरा। अप्राप्य

३. **श्रावक धर्म संग्रह**—र प दरियावसिंहजी सौधिया। पृ. ३२५ सजिल्द मू ४) जैन धर्म की सर्वोपयोगी सुन्दर रचना (अप्राप्य)

४. **बिखरे मोती**—र डॉ सौभाग्यमलजी दोमी पृ. १६५ सजिल्द मू. १)२५ सार्वजनिक एवं सामाजिक समारोहो मे, अभिनय योग्य एकांकी (अप्राप्य)

५. **हम कैसे सुधरें**—ले 'स्वतंत्र'। मू. सदुपयोग (अप्राप्य)

६. **उपासना**—बारह भावना (गिरधर शर्मा कृत) एवं मेरी भावना (युगवीर) मू नित्यपाठ।

७. **भक्तामरस्तोत्र**–हिन्दी पद्यानुवाद(पं. गिरधर शर्मा) मू. नित्यपाठ

८. **वीर निर्वाणोत्सव**—पूजन, वही मुहूर्त, महावीराष्टक, निर्वाण-कांड। मूल्य-प्रचार

९. **अध्यात्म दोहावली**—(अप्राप्य)

१०. **जैन विवाह संस्कार**—सरल विवाह विधि पृ ५०, मूल्य ५० पैसे

११ **स्वतंत्रता और समाजवाद**—श्री मुनि विद्यानन्दजी महाराज

१२. **सप्तव्यसन**— " " ", मूल्य ५० पैसे

१३. **बुन्देलखंड-उत्तर प्रदेश-गुजरात प्रांतीय**—जैन तीर्थो की मोटर यात्रा मू. तीर्थ यात्रा

१४. **बोध कथा कौमुदी**— मू. १५०

१५. **दक्षिण प्रांतीय जैन तीर्थयात्रा (मोटर द्वारा)** मू. तीर्थयात्रा

१६. **जैन धर्म**—ले. पं. नाथूरामजी डोंगरीय, मूल्य २ रु.

प्राप्ति स्थान—अमरचन्द फूलचंद गोधा ग्रन्थमाला

८, सर हुकमचन्द मार्ग, इंदौर-२ (म प्र)